स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ।।

MAAH-102N

भारत का प्राग एवं आद्य इतिहास

(Pre and Proto History of India)

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333

कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

सन्देश

प्रयागराज की पवित्र भूमि पर भारत रत्न राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन के नाम पर वर्ष 1999 में स्थापित उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज उ0प्र0 का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय है। यह विश्वविद्यालय उ0प्र0 जैसे विशाल जनसंख्या वाले राज्य में उच्च शिक्षा के प्रत्येक आकांक्षी तक गुणात्मक तथा रोजगारपरक उच्च शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराने में निरन्तर अग्रसर एवं प्रयत्नशील है। तत्कालीन देश की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में एक वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा व्यवस्था के रूप में भारत में मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा प्रणाली का पदार्पण हुआ था, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों तथा तकनीकी का सार्थक प्रयोग करते हुये मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा आज की सर्वोत्तम पूरक शिक्षा व्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुकी है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सामने व्याप्त पाँच मुख्य चुनौतियों - (i) पहुँच (Access), (ii) समानता (Equity), (iii) गुणवत्ता (Quality), (iv) वहनीयता (Affordability) तथा (v) जवाबदेही (Accountability) को केन्द्र में रखकर घोषित देश की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP-2020) के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने में उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय कृत संकल्पित है। उ0प्र0 की माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति श्रीमती आनंदीबेन पटेल जी की सद्इच्छाओं के अनुरूप उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, शैक्षिक दायित्वों के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों के निर्वहन में भी लगातार नवप्रयास कर रहा है। चाहे वह गाँवों को गोद लेकर उनके समग्र विकास का प्रयास हो या ग्रामीण महिलाओं, ट्रान्सजेन्डर व सजायाफ्ता कैदियों को शुल्क में छूट प्रदान कर उनमें आत्मविश्वास जागृति व उच्च शिक्षाा के प्रति अलख जगाने का प्रयास हो।

राष्ट्रीय विकास को बढ़ावाा देने के लिए शिक्षा एक मूलभूत जरूरत है। ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्रों में हो रहे तीव्र परिवर्तनों व वैश्विक स्तर पर रोजगार की परिस्थितियों में आ रहे परिवर्तनों के कारण भारतीय युवाओं को विभिन्न क्षेत्रों में गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराने पर ही भारत का भविष्य निर्भर करेगा। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों में सफलता हेतु शिक्षा को सर्वसुलभ, समावेशी तथा गुणवत्तापरक बनाना समसामयिक अपरिहार्य आवश्यकता है। कोविड-19 संक्रमण काल ने परम्परागत शिक्षा को और भी सीमित कर दिया है जबकि कोविड-19 के संक्रमण काल में तथा कोविड-19 के बाद भी मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा व्यवस्था ही एकमात्र पूरक एवं प्रभावी शिक्षा व्यवस्था के रूप में सार्थक सिद्ध हो रही है। ऐसी स्थिति में विश्वविद्यालय का दायित्व और भी बढ़ जाता है। इस दायित्व को एक चुनौती स्वीकार करते हुए विश्वविद्यालय ने प्राचीन तथा सनातन भारतीय ज्ञान, परम्परा तथा सांस्कृतिक दर्शन व मूल्यों की समृद्ध विरासत के आलोक में सभी के लिए समावेशी व समान गुणवत्तायुक्त शिक्षा सुनिश्चित करने तथा जीवन पर्यन्त शिक्षा के अवसरों को बढ़ावा देने के लिए अपने शैक्षिक कार्यक्रमों में प्रमाणपत्र, डिप्लोमा, परास्नातक डिप्लोमा, स्नातक, परास्नातक तथा शोध उपाधि के समसामयिक शैक्षिक कार्यक्रमों की संख्या तथा गुणात्मकता में वृद्धि की है।

शैक्षिक कार्यक्रमों में संख्यात्मक वृद्धि, गुणात्मक वृद्धि तथा रोजगारपरक बनाने के साथ-साथ प्रत्येक उच्च शिक्षा आकांक्षी तक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए अध्ययन केन्द्रों व क्षेत्रीय केन्द्रों के विस्तार के साथ-साथ प्रवेश, परीक्षा, प्रशासन तथा परामर्श (शिक्षण) में आनलाइन व्यवस्थाओं को सुनिश्चित किया गया है। विश्वविद्यालय कार्यप्रणाली में पारदर्शिता तथा जवाबदेही सुनिश्चियन की दृष्टि से तकनीकी के प्रयोग को बढ़ायाा गया है। 'चुनौती मूल्यांकन' की व्यवस्था सुनिश्चित करने का कार्य किया गया है, तो शिक्षार्थी सहायता सेवाओं में भी वृद्धि की जा रही है। शिक्षार्थियों की समस्याओं के त्वरित निस्तारण हेतु शिकाायत निवारण प्रकोष्ठ को सुदृढ़ करने के साथ-साथ पुरातन छात्र परिषद को गतिशील किया गया है।

शोध और नवाचार के क्षेत्र में अग्रसर होते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) नई दिल्ली तथा माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति, उ0प्र0 की अनुमति से विश्वविद्यालय में शोध कार्यक्रम पुनः प्रारम्भ किया गया है तथा वर्ष पर्यन्त समसामयिक विषयों पर व्याख्यान, सेमिनार, बेबिनार तथा आनलाइन संगोष्ठियों आदि की श्रृंखला भी प्रारम्भ की गयी है। विभिन्न क्षेत्रों में रिसर्च प्रोजेक्ट सम्पादन पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। पुस्तकालय को अत्याधुनिक तथा सुदृढ़ बनाने हेतु कदम उठाये गये हैं। शिक्षकों व कर्मचारियों के स्वास्थ्य तथा कल्याण की योजनायें क्रियान्वित की गयी है। वर्तमान की विषम परिस्थितियों के दृष्टिगत विश्वविद्यालय ने मुख्यमंत्री तथा प्रधानमंत्री राहत कोष में अंशदान देने का भी प्रयास किया है।

भौतिक अधिसंरचना की दृष्टि से विश्वविद्यालय निजी स्रोतों से ही निरन्तर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ा है। विश्वविद्यालय के शिक्षकों, परामर्शदाताओं, क्षेत्रीय समन्वयकगण, अध्ययन केन्द्र समन्वयकगण तथा कर्मचारियों की एकता व कर्मठता ही वह ऊर्जा पिण्ड है जिसके बल पर विश्वविद्यालय जीवंत व प्रकाशवान है। मुझे विश्वास है कि इसी ऊर्जा पिण्ड की सहायता से यह विश्वविद्यालय देश, प्रदेश तथा समाज को अपनी सेवाओं व योगदान प्रदान कर और अधिक समृद्ध, सुदृढ़ और गौरवशाली बनाने में अपनी भूमिका अदा कर सकेगा। मैं समस्त विश्वविद्यालय परिवार के प्रति आदर व आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रो. सीमा सिंह
कुलपति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व

MAAH-102 (N)

भारत का प्राग एवं आद्य इतिहास
(Pre and Proto History of India)

पाठ्यक्रम

इकाई	शीर्षक	पृष्ठ नं.
इकाई 1	प्राग इतिहास का सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध	3–14
इकाई 2	प्राग इतिहास में काल निर्धारण की समस्या	15–21
इकाई 3	पुरापाषाण कला–शैल चित्र	22–28
इकाई 4	निम्न पुरापाषाण काल–चॉपर चॉपिंग और हैंड–ऐक्स क्लीवर	29–43
इकाई 5	मध्य पुरापाषाण काल–नेवासा, महेश्वर, बेलन घाटी	44–53
इकाई 6	उच्च पुरापाषाण काल –रेनिगुंटा, येर्रगोंडापल्लम, बेलन घाटी	54–62
इकाई 7	मध्यपाषाण संस्कृति–बीरभानपुर, मोरहाना पहाड़, सराय नाहर राय, लंघनाज, बागोर, तिन्नवल्ली, बॉम्बे, कर्नाटक	63–84
इकाई 8	नवपाषाण काल–उत्तरी भारत–बुर्जहोम और गुफकराल,पूर्वी भारत–चिरांद,दाओजली हैडिंग,कुचाई,मध्य भारत–कोल्डिहवा,महगड़ा	85–99
इकाई 9	दक्षिणी भारत–ब्रह्मगिरी,संगनकल्लू,उत्तनुर, पिकलीकहल,टी नरशीपुर,तेक्कलकोटा,हल्लूर,कुप्गल पैयमपल्ली	100–108
इकाई 10	पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ, बलूचिस्तान, सिंध और राजस्थान, हड़प्पा–कोट दीजी, कुल्ली, नाल, आमरी, क्वेटा, झोब, कालीबंगा	109–121
इकाई 11	परवर्ती हड़प्पा संस्कृति–समाधि एच, गांधार समाधि, कृष्ण लोहित मृदभाण्ड	122–135
इकाई 12	ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ–कायथा, अहाड़, मालवा, जोर्वे	136–149
इकाई 13	गैरिक मृदभाण्ड परम्परा और ताम्र निधियाँ	150–157
इकाई 14	चित्रित धूसर मृदभाण्ड एवं उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड	158–167
इकाई 15	महापाषाणिक संस्कृतियाँ	168–174

MAAH-102 N

भारत का प्राग एवं आद्य इतिहास

(Pre and Proto History of India)

परामर्श समिति

प्रो.सीमा सिंह,	कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार	कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.जे.एन.पाल	पूर्व आचार्य प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.हर्ष कुमार	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.राजकुमार गुप्ता	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग प्रो.राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया) विश्वविद्यलय, प्रयागराज
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

इकाई लेखक

डॉ.संजय कुमार कुशवाहा	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

bdkb&1&15

सम्पादक

प्रो.जे.एन.पाल	पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम समन्वयक

Mk-lqhy dekj	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

(c) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021,

ISBN : 978-81-19530-08-3 **मुद्रित वर्ष– अक्टूबर, 2023**

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस साम्रगी के किसी भी अंश को उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय साम्रगी में मुद्रित साम्रगी के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन–उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक–कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211002

मुद्रक–मेसर्स चन्द्रकला प्राइवेट लिमिटेड, प्रयागराज–211002

इकाई–1 प्रागैतिहास का सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 प्रागैतिहास

1.4 सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

1.5 मानविकी/सामाजिक विषय से सम्बन्ध

1.5.1 इतिहास

1.5.2 भूगोल

1.5.3 नृतत्त्वशास्त्र

1.5.4 समाजशास्त्र

1.5.5 कला

1.6 प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

1.6.1 भौतिक विज्ञान

1.6.2 भू–तत्व विज्ञान

1.6.3 रसायन विज्ञान

1.6.3 जीवाश्म विज्ञान

1.7 साराश

1.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.9 बोध प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रगैतिहास तहासिक काल वह काल है जिसके बारे में जानने के लिए कोई लिखित साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है। भारत में प्रायः सभी पाषाण युगीन संस्कृतियों को प्रागैतिहासिक काल में, धातुयुगीन सभ्यताओं को, जिनके विषय में लिखित प्रमाणों से प्रकाश नहीं पड़ता है आद्यऐतिहासिक काल में तथा उसके बाद की अथवा जिन सभ्यताओं के सम्बन्ध में लिखित प्रमाणों से प्रकाश पड़ता है, उन्हें ऐतिहासिक कालीन सभ्यताओं के अन्तर्गत रखा जाता है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- प्रागैतिहास के अर्थ और परिभाषा को
- प्रागैतिहासिक संस्कृति के विषय में
- प्रागैतिहास के अन्य विषयों से संबंध को
- प्रागैतिहासिक काल खंड की विशेषता को

1.3 प्रागैतिहास

प्रागैतिहास के अन्तर्गत मानव इतिहास के उस काल के बारे में अध्ययन किया जाता है, जब लेखन कला का प्रचलन नहीं हुआ था। इस काल को प्रागैतिहासिक काल के नाम से जाना जाता है। अर्थात् कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व, प्रागैतिहासिक काल के मानव के रहन–सहन और तौर–तरीकों का अध्ययन है। इस काल मे बारे में जानकारी साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव के कारण केवल भौतिक अवशेषों के माध्यम से होती है। इसलिए प्रागैतिहासिक संस्कृति को जानने में पुरातात्त्विक साक्ष्यों के साथ–साथ पुरातत्त्व विषय की महत्ता अहम हो जाती है। 'प्रागैतिहास' अंग्रेजी भाषा के 'Pre-history' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। 'Pre-history' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग डेनियल विलसन (Daniel Wilson) द्वारा 1851 में अपनी पुस्तक ' Archaeology and Prehistoric Annals of Scotland' में किया था। इसके बाद प्रागैतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र मे पूरे विश्व में कार्य किये जाने लगे और नये–नये पुरास्थल प्रकाश में आने लगे। हालाकि 1837 ई0 में फ्रांस की सोम्मे (Somme) नदी घाटी से फ्रांसीसी पुरातत्त्वविद् जैक्स बाउचर डे पर्थेस ने चकमक पत्थर की हाथ की कुल्हाड़ी(Hand-axe) और पाषाण के कुछ अन्य टुकड़ों को प्राप्त किया था जो निश्चित आकार के थे। इन्होंने पहली बार यह प्रतिपादित किया कि खोजे हुए ये उपकरण बहुत प्राचीन मानव द्वारा निर्मित हैं। इसी क्रम में 1856 ई0 में जर्मनी के Durseldorf (डुसेलडोर्फ) से एक ऐसे प्रस्तरीकृत अवशेष मिले है, जिसमें कपाल का भाग था तथा उसी क्षेत्र में दूसरी जगह से निचले जबड़े का भाग मिला। संरचना की दृष्टि से यह अवशेष न तो आज के वनमानुष से और न ही मानव में मिलते थे। पहले इसे किसी बीमार मानव का माना गया लेकिन बाद में प्राप्ति स्थल के आधारपर इसे नियंडरथल मानव (Neanderthal Man) का माना जाने लगा। 1859 ई0 में चार्ल्स डार्विन ने अपनी पुस्तक 'The origin of species by means of Natrual Seleciton) में दिया। प्रारम्भ में इसका विरोध हुआ। लेकिन इसके कारण मानव के शारीरिक अवशेष एकत्र किये जाने का प्रयास होने लगा।

अतः मानव के प्रस्तरीकृत अवशेषों की खोज प्रारम्भ हुई। यह प्रागैतिहास का महत्वपूर्ण पक्ष था (जायसवाल, 2009)। जब इन वैज्ञानिक आविष्कारों ने प्रगैतिहास की धारा को आगे बढ़ाने का कार्य किया तो धीरे–धीरे पूरे यूरोप, अफ्रिका, एशिया और साथ ही साथ भारत में भी प्रागैतिहासिक अनुसंधान शुरू हुआ। भारत में 1963 ई0 में राबर्ट ब्रुसफूट ने मद्रास के समीप पल्लवरम् नामक स्थान से पुरापाषाणिक उपकरण खोज कर प्रागैतिहासिक अध्ययन का श्रीगणेश किया। इसलिए रार्बट् ब्रुसफुट को भारतीय प्रागैतिहास का पिता भी माना जाता है। ब्रुस फूट का 40 वर्षों का संग्रह मद्रास संग्रहालय में संग्रहित है। तब से लेकर आज तक भारत के विभिन्न भागों से प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व से सम्बन्धित प्रमाण प्रतिवेदित होते रहे हैं। भारतीय प्राग्–इतिहास का प्रारम्भ होमोइरेक्टस मानव की कृतियों की प्राप्ति से ही होता है जिसके प्रमाण सोहन नदी, बेलन नदी, नर्मदा नदी, मद्रास के पल्लवरम् इत्यदि स्थानों से प्राप्त होते हैं। भारत में प्रागैतिहास का कालखण्ड प्रारम्भ से लेकर लगभग 3000 ई0पू0 तक माना जाता है। विश्व के कुछ महत्वूर्ण पुरास्थलों में ओल्डुवाई गॉर्ज (तंजानिया), सनबरी अर्थरिंग्स (आस्ट्रेलिया) स्टौनहेंज (इग्लैण्ड), इसमिला (पूर्वी अफ्रीका), ओरगोसेली (केन्या), कोलम्बोफाल (जाम्बिया), ट्रिनील वैली (जावा), क्लैक्टोन–ऑन–सी (इग्लैण्ड), सैन्ट–एश्यूल (फ्रांस), लास्काक्स (फ्रांस), भीमबेठका (भारत), इवाजुक (जापान) और बार्टन गुलय (संयुक्त राज्य अमेरिका) इत्यादि हैं।

1.4 प्रागैतिहास का सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

जैसा कि इतिहास का उद्देश्य होता है अतीत का अध्ययन कर वर्तमान में सचेत होकर भविष्य को सुधारना। उसी प्रकार प्रागैतिहास का उद्देश्य होता है भौतिक अवशेषों का अध्ययन कर मानवीय इतिहास की पूर्णसंरचना करना। इसके लिए पुरातत्त्ववेत्ता, पुरातात्त्विक अवशेषों का संग्रह विभिन्न प्रकार की सर्वेक्षण एवं उत्खनन की विधियों से करता है। इन पुरावस्तुओं को कालक्रम के विकासात्मक स्वरूप में स्थापित करने के लिए एवं प्राप्त आकाड़ों की व्याख्या के लिए पुराविद् मानविकी विज्ञान/सामाजिक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान का सहारा लेता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इस रूप में वह सामजिक विषयों से सम्बन्धित होता है और प्राप्त पुरावेशषों के विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्रयोगशाला में किया जाता है, उस रूप में प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध परिलक्षित होता है। इस तरह से प्रागैतिहास मानविकी और प्राकृतिक दोनों विज्ञानों से परस्पर सम्बन्धित है–

1.5 मानविकी/सामाजिक विषय से सम्बन्ध

प्रागैतिहासमें मानव निर्मित अवशेषों का अध्ययन, मानव के सम्पूर्ण पक्षों को

उद्घाटित करने के लिए किया जाता है इसलिए प्रागैतिहास को मानविकी विज्ञान से सम्बन्धित विषयों जैसे इतिहास, भूगोल, नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, कलाकृतियों आदि से सहायता लेनी पड़ती है। जिसका विवरण निम्नवत् है–

1.5.1 प्रागैतिहासतथा इतिहास

इतिहास और प्रागैतिहास एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है क्योंकि दोनों का उद्देश्य कमोवेश एक ही होता है, मानव के विकास के क्रम में हुए व्यवहारिक एवं सांस्कृतिक बदलावों का अध्ययन करना और अतीत का कालक्रम के अनुसार पूनर्संरचना करना। इतिहास की धारा लिखित साक्ष्य और पुरातात्त्विक साक्ष्य दोनों के माध्यम से आगे बढ़ती है। इतिहास का केवल 0.1 प्रतिशत भाग ही लिखित साक्ष्य के माध्यम से जाना जाता है। इतिहास का एक लम्बा कालखण्ड, मानव के उद्भव से लेकर लेखन कला के प्रचलन तक प्रागैतिहास के अर्न्तगत आ़ता है। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मानवीय विकास के इतिहास की आधारशिला का निर्माण इसी समय हुआ था। पशुपालन, कृषि, मृदभाण्ड, शिल्पकारी, दस्तकारी, आभूषण निर्माण, भित्ति चित्रकला इत्यादि का आविष्कार भी इसी काल में हुआ था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रागैतिहास के बिना इतिहास के क्रमिक विकास की धारा को सम्यक् रूप से नहीं समझा जा सकता। इतिहास की किसी भी घटना के बारे में यदि साहित्य में वर्णन है तो इस घटना के पुरातात्त्विक प्रमाण भी होने चाहिए। यदि पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिलते हैं तो इतिहास की इस घटना की प्रामाणिकता संदेहास्पद लगती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इतिहास और प्रागैतिहास दोनों को साथ लेकर मानवीय विकास और संस्कृति की व्याख्या की जाय। इसी तरह डा0 बी0एन0 पुरी ने पुरातत्त्व और इतिहास के सत्त सम्बन्ध के बारे में विचार व्यक्त किये हैं कि ''पुराविद् के लिए ऐतिहासिक ज्ञान परमावश्यक है। इतिहासकार के ज्ञान का विकास उत्खनन में प्राप्त भौतिक अवशेषों से होता है। इन दोनों को एक–दूसरे से पृथक नहीं रखा जा सकता। इतिहास पुरातत्त्व की छोटी सहेली है और वे परस्पर निकटतम है'' (पाण्डेय 2017 : 7–8)। इससे स्पष्ट है कि मानव इतिहास की धारा का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक अध्ययन से शुरू होता है और आगे जब लेखनकला का प्रचलन होता है तो पुरातत्त्व और साहित्यिक साक्ष्य दोनों पर आधारित होकर आगे बढ़ती है।

1.5.2 नृतत्त्व शास्त्र (Anthropology)

प्रागैतिहास को परिलिक्षित करने वाले प्रत्येक विद्वान यथा, गार्डन चाइल्ड, ग्राहम क्लार्क, कॉलिन रेनफ्रु, एच0डी0 संकालिया इत्यादि सभी का मानना है कि प्रागैतिहास भौतिक अवशेषों के आधार पर मानवीय क्रियाकलापों का अध्ययन है अर्थात् प्रागैतिहास मानव जीवन के अध्ययन से जुड़ा विषय है। इसमें पुरातात्त्विक

अध्ययन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योकि पुरातत्त्व को मानव शास्त्र के अन्तर्गत एक उपविषय भी माना जाता है। पुरातत्त्व का केन्द्रीयकरण पूर्वजों के मानवीय इतिहास पर केन्द्रित होता है जबकि नृतत्त्व शास्त्र के अन्तर्गत मानव के भौतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भाषा आदि से सम्बन्धित ऐतिहासिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है। नृतत्त्व शास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया गया है यथा भौतिक नृतत्त्व शास्त्र, सांस्कृतिक नृतत्त्व शास्त्र और पुरातत्त्व। नृतत्त्व शास्त्र के इसी पुरातत्त्व का कुछ वर्षों से स्वतंत्र विषय के रूप में विकास हुआ है (राजन, 2002 : 3–4)। विली तथा फिलिप्स ने 1958 में कहा था कि पुरातत्त्व मानव विज्ञान ही है उसके सिवाय कुछ नहीं है। इस प्रकार पुरातत्त्व और मानव शास्त्र एक–दूसरे से इतनी घनिष्ठता सम्बन्धित है कि उनका विभेदीकरण करना मुश्किल हो जाता है। चूकि नृतत्त्वशास्त्र का अध्ययन मुख्यतः जनजातीय/समुदाय के विषय में होता है जबकि पुरातत्त्व में पुराविद् द्वारा मानव निर्मित निर्जीव सामग्रियों का अध्ययन किया जाता है जिसकी कड़ियाँ विलुप्त हो चुकी है। फिर भी प्राचीन काल की मानव प्रजातियों और उनकी संस्कृति को समझने के लिए पुराविद् उन तथ्यों की अनदेखी नहीं कर सकता जो नृतत्त्व शास्त्रियों द्वारा उसे वर्तमान की विभिन्न प्रजातियों तथा उसकी संस्कृति के विषय में उपलब्ध कराये जाते हैं (पाण्डेय, 2017 : 8–9)। विगत कुछ दशकों में नृतत्त्व शास्त्र में एक नयी शाखा का विकास हुआ जिसे ''नृजाति–पुरातत्त्व'' (Ethno-Archaeology) कहा जाता है। अध्ययन की इस शाखा में आदिम परिपाटी पर वर्तमान में जीवन–यापन कर रहीं जनजाति या समुदाय का अध्ययन किया जाता है जो प्रागैतिहासिक मानव के जीवन–यापन के विभिन्न आयामों को समझने में पुरातत्त्व को सहायता प्रदान करता है।

1.5.3 भूगोल

भूगोल, पृथ्वी तल पर घटित होने वाली समस्त भौगोलिक घटनाओं का अध्ययन करता है, जिसमें वातावरण, पारिस्थितिकी, जलवायु, मिट्टी की बनावट, वर्षा, कृषि, जनसंख्या, विवरण, नदी, पहाड़, वन इत्यादि का समावेशन होता है। मानव का जब पृथ्वी पर जन्म हुआ तो वह जलवायु और शारीरिक बनावट के अनुसार उपयुक्त स्थान पर रहना शुरू किया जहाँ उसे जीवन–यापन से सम्बन्धित सभी आवश्यक वस्तुएँ मिल सकें। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार पुरातन मानव द्वारा किये जाने वाले उद्यम ही परवर्ती मानव संस्कृति और सभ्यता के निर्माण के आधार बने। जब किसी पुरास्थल की खोज की जाती है तो पुराविद को मानव द्वारा अपने जीवन–यापन के क्रम में प्रयोग की गयी वस्तुएँ, उत्खनन एवं सर्वेक्षण के माध्यम से प्राप्त होती है। इनकी व्याख्या हेतु, पुरास्थल की स्थिति, समकालीन जलवायु,

जीव–जन्तु, वनस्पति, नदी, पहाड़, मानव के सन्निवेश एवं जनसंख्या का वितरण इत्यादि का ज्ञान आवश्यक होता है। इसके लिए पुराविद् कोप्रागैतिहासिक अध्ययन के लिये भूगोल का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

1.5.4 समाजशास्त्र–

समाजशास्त्र, समाज के आचार–व्यवहार, संरचना एवं समाजिक संस्थाओं का अध्ययन कराता है। समाज का स्वरुप समय के साथ कैसे–कैसे बदला, क्या–क्या बदलाव परिलक्षित हुए, इन सभी पहलुओं पर समाजशास्त्रीय अध्ययन द्वारा प्रकाश पड़ता है। मानव व्यवहार समाजिक परम्पराओं के अनुरुप होता है इसलिए सामाजिक पहलू किसी भी मानव सभ्यता का महत्वपूर्ण अंग होता है। अन्वेषित सभ्यता के सामाजिक संगठन, वर्ग विभाजन, रीतिरिवाजों एवं प्रथाओं के प्रचलन इत्यादि की व्याख्या पुराविद् तभी कर सकेगा, जब उसे उसका समुचित ज्ञान हो। स्वेन निल्सन, जो कि स्वीडिस पुरातत्वविद् थे, इन्होंने चार प्रकार के सामाजिक संरचना की बात की है। यह विभाजन खाद्यन्न के स्रोत एवं अर्थव्यवस्था को आधार बनाकर कया गया है। इनके अनुसार ''समाज का प्रथम चरण वन्यता/असभ्य (savagery) द्वितिय चरण यायावर/पशुचारण (Nomad) तृतीय स्थायी कृषि (Settled agriculture) और चतुर्थ चरण सभ्यता (Civilization) का था।'' इस विभाजन के अनुसार देखा जाय तो प्रागैतिहासिक काल का प्रारम्भिक चरण पुरापाषाण काल वन्यता को, मध्यपाषाण काल जो अर्धस्थायी था यायावार/पशुचारण समाज को, नवपाषाण काल स्थायी कृषि को एवं इसके बाद का काल सभ्यता (सिन्धु सभ्यता) को दिखाता है। अन्ततः कहाँ जा सकता है कि पुराविद् को प्राप्त अवशेषों की व्याख्याा करने के लिए सामाजिक बदलाव के लक्षणों के ज्ञान हेतु समाजशास्त्र का सहयोग अपेक्षित है।

1.5.5 कला (कलाकृतियों के अवशेष)

मानव जब अपने अर्न्तनिहित भावों को किसी माध्यम के रुप अभिव्यक्त कर मूर्त रुप प्रदान करता है तो वह कला कहलाती है। मानव जब से पृथ्वी पर अवतरित हुआ है तब से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नित्य कुछ न कुछ नये आविष्कार करता है जैसे उपकरण का निर्माण, मृदभाण्ड का निर्माण, मूर्तियॉ, चित्रकला, भित्तिचित्र इत्यादि। ये कलाकृतियाँ मानव जीवन के रहन–सहन, अर्थव्यवस्था, धर्म इत्यादि पक्षों पर प्रकाश डालती है। इसलिए पुराविद् इन कलात्मक वस्तुओं को ही संग्रह करना शुरु किया था और इन मूर्तियों, चित्रकलाओं, स्तम्भलेखों, भवनों एवं अन्य कलाकृतियों का मूल्यांकन ही पुरातत्त्व था क्योंकि उस

समय तक पुरातत्त्व का समुचित विकाश नहीं हो पाया था। जब जनरल कनिंघम की नियुक्ति भारतीय पुरातत्त्व के निर्देशक के रुप मे हुई (1861–65ई0 तक तथा 1871–85 ई0 तक) तब कनिंघम ने भारत के प्राचीन स्थलों और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को प्रकाश में लाने का अथक प्रयास किया, जिसके लिए भारतीय पुरातत्त्व सदैव ऋणी रहेगा (शर्मा,1985:3)। इसके बाद से पुरातत्त्व का महत्त्व धीरे–धीरे बढ़ता गया और प्रशिक्षित पुराविद्ों द्वारा इन कलात्मक वस्तुओं से इतिहास की व्याख्या करने का नजरिया भी बदलता गया और प्रागैतिहासिक अध्ययन में भी इन कलात्मक अवशेषों ने आधार प्रदान किया।

1.6 प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध–

प्रागैतिहास की संरचना में पुरातत्त्ववेत्ता को पुरावशेषों की व्याख्या करने के लिए मानविकी विज्ञान के साथ–साथ प्राकृतिक विज्ञानों की सहायता लेनी पड़ती है। पुरावशेषों के सर्वेक्षण के क्रम में बहुत सी ऐसी वैज्ञानिक विधियां है जिसका प्रयोग सर्वेक्षण कर्ता करता है। इसमें हवाई छायांकन, लौह शलाका विधि, शब्द ध्वनि, चुम्बकीय परीक्षण, मृदा–विश्लेषण, इत्यादि हैं। सर्वेक्षण एवं उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों का प्रकृति से गहरा सम्बन्ध रहता है। सामग्रियों के नष्ट होने एवं मृत हो जाने के बाद भी रासायनिक क्रियाएँ निरन्तर घटती रहती हैं। अतः पुरातात्त्विक सामग्रियों के तिथि निर्धारण के क्रम में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है। प्रमुख तिथि विधियों में कार्बन–14 तिथि विधि, ऊष्मादीप्ति तिथि विधि, पोटैशियम आर्गन, इलेक्ट्रान घुर्णन अनुनाद विधि, युरेनियम श्रृंखला विधि तथा विखण्डन अनुक्रम विधि इत्यादि हैं (सिंह 2017: 35–36)। तिथि–निर्धारण की इस कार्य पद्धति को सम्पादित करने के लिए पुरातत्त्वविद् विशुद्ध विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों से सहायता लेता है जिनका उल्लेख निम्नवत् है–

1.6.1 भौतिक विज्ञान

पुरातात्त्विक उत्खनन एवं सर्वेक्षण से जो भी पुरावस्तुएँ प्राप्त होती है, वह प्रागैतिहास के अध्ययन के लिए महत्वपूर्णहोती है। पुरातत्त्ववेत्ता इन पुरावस्तुओं का कालक्रम प्रयोगशाला में निर्धारित करता है और तिथि निर्धारण कर वस्तु की प्राचीनता को स्पष्ट करता है। यह कार्य भौतिक विज्ञान की सहायता के बिना सम्भव नहीं प्रतित होता है। भौतिक विज्ञान, विज्ञान की वह शाखा है जिसमें द्रव्य, ऊर्जा तथा उनकी अन्योन्य क्रियाओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है। हॉलाकि सभी वस्तुएँ द्रव्य और उर्जा से बनी होती है, अतः भौतिकि में सभी पदार्थो के अध्ययन का समावेश होता है। पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त होने वाली सभी वस्तुएँ भी किसी न किसी द्रव्य से मिलकर बनी होती है। पुरावस्तुएँ जितनी प्राचीन

होती है, द्रव्य की मात्रा निरन्तर घटती जाती है। प्रयोग शाला में विद्वानों द्वारा इसी घटने की दर को ज्ञात कर तिथि का निर्धारण किया जाता है। कार्बन 14 तिथि विधि और पोटैशियम आर्गन तिथि विधि का भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध है। कार्बन 14 तिथि विधि का प्रयोग सर्वप्रथम 1949 ई. में विलियर्ड एफ. लिवी द्वारा किया गया। इसमें किसी पदार्थ में रेडियोधर्मी कार्बन–14 की मात्रा ज्ञात कर तिथि का र्निधारण किया जाता है। रेडियों कार्बन विधि द्वारा हम 40–50 हजार वर्षो पूर्व की तिथि एवं प्रयोग शाला का प्रयोग करके 70–80 हजार वर्षो तक की तिथि का निर्धारण कर सकते है। पोटैशियम आर्गन विधि (k40 / A40) द्वारा पुराविद् ज्वालामुखी के लावे के साथ प्रतिवेदित कई लाख वर्षो के प्राचीन पुरावशेषों का अध्ययन सुगमता से कर सकता है। ऊष्मादिप्ति तिथि विधि द्वारा मिट्टी के र्बतनों की प्राचीनता ज्ञात की जाती है। भौतिक विज्ञान की सहायता से ज्ञात तिथि सौर वर्षो में प्राप्त होती है, जो स्तरीकृत पुरावशेषों के महत्व को अत्यधिक बढ़ा देती है। कहा जा सकता है कि पुरातत्त्ववेता को निरपेक्ष तिथि निर्धारण के लिए भौतिक विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है।

1.6.2 भू–तत्व विज्ञान–

भू–तत्व विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान का वह भाग है जिसमें पृथ्वी की बनावट एवं आन्तरिक स्तरों का अध्ययन किया जाता है। भून्तत्त्व विज्ञान में 'Strata' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका हिन्दी अनुवाद 'स्तर' होता है। इन्ही स्तरों के अध्ययन के लिए भूगर्भ शास्त्र में *'स्तरीकरण'* के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। स्तरीकरण के सिद्धान्त का उपयोग ब्रिटेन के भूगर्भशास्त्री चार्ल्स लॉसल ने सन् 1850–53ई0 में किया था, जिसे पुरातत्त्व के अध्ययन के लिए उपयोगी समझा गया। पुरातत्त्व का सबसे महत्वपुर्ण अंग पुरातात्त्विक स्तरीकरण है। पुरातत्त्व की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्तरीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका मूल आधार अध्यारोपण (Superimposition), एक रुपतावाद (Uniformitarianism) तथा अनुक्रम (Sequence) के सिद्धान्तों पर आधारित है। चार्ल्स लॉयल के अध्यारोपण के सिद्धान्त के अर्न्तगत यदि ''पृथ्वी में कोई उथल–पथुल नहीं हुई है तो निम्नतम् वस्तु सबसे प्राचीनहोगीतथा उसके ऊपर स्थित वस्तु बाद की होगी एवं सबसे ऊपरी स्तर से प्राप्त वस्तु सबसे आधुनिक होगी (शर्मा, 2001:5)।

पुरातात्त्विक उत्खनन के उपरान्त प्राप्त स्तरों के तिथि–निर्धारण के लिए भी स्तरीकरण का प्रयोग किया जाता है लेकिन यह तिथि सौर वर्षो में प्राप्त न होकर सापेक्ष तिथि होती है। सापेक्ष तिथि विधि का प्रागैतिहासिक संस्कृति के काल निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान है। मानव का उद्भव एवं विकास पृथ्वी के विकास से सम्बन्धित है, अतः पृथ्वी के स्तरित जमावों में उपलब्ध मानव के पुरावशेषों का

तिथि निर्धारण स्तरीकरण के सिद्धान्त के अनुसार करते है। भूतात्त्विक स्तरों के निर्माण की प्रक्रिया निश्चित और नैसर्गिक नियमों के तहत होती है और आज भी उन्ही नियमों के तहत स्तरों के बनने की प्रक्रिया गतिमान है, जिससे स्तरों मे एकरूपतावाद दिखाई देती है। इन स्तरों के अनुक्रम का अध्ययन कर अन्यत्र किसी अन्य पुरास्थल के स्तरों की समानता के आधार पर सापेक्ष तिथि निर्धारित की जाती है।

1.6.3 रसायन विज्ञान

पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों के ऊपर काई एवं जंग लग जाती है जिसे वह अपनी प्राकृतिक अवस्था में नहीं रह पाती है। इन पुरावशेषों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए परिरक्षण की विशेष आवश्यकता पड़ती है। कुछ पुरावशेषों को साफ पानी से धोने से ही वे अपने मूल स्वरूप में आ जाती हैं लेकिन कुछ पुरावशेषों को साफ करने के लिए रासायनिक घोल या रासायनिक लेप की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में पुरातत्त्ववेत्ता को रसायन शास्त्र में सामान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति हेतु पुरातत्त्ववेत्ता अपने साथ पुरारसायनज्ञ को भी ले जाता है ताकि इससे उचित परामर्श मिलता रहे। पुराविद् एवं पुरारसायनज्ञ को इस बात का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए कि उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों को यथा सम्भव ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जाय। परिरक्षण मे ज्यादा सावधानी धातु की वस्तुओं के साथ रखनी चाहिए क्योंकि जंग लगने के कारण ये टूटने लगती है। धातु की बनी हुई पुरानिधियों में लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना एवं कॉस्य की बनी हुई वस्तुओं को साफ करने के लिए रासायनिक घोल की आवश्यकता पड़ती है, जैसे–ताँबें की वस्तु को, एक भाग टारटरिक अम्ल, एक भाग कास्टिक सोड़ा तथा दस भाग स्वच्छ जल से बने घोल में डुबाकर रखा जाता है। अच्छी तरह साफ कर लेने के बाद विनॉयल एसीटेट के 10 प्रतिशत घोल का विलेपन करना चाहिए (पाण्डेय, 2008 : 95–97)। इसी तरह से अन्य धात्विक सामग्रियों को भी साफ करने के लिए अलग–अलग प्रकार के घोल में रखा जाता है जो कि रसायन विज्ञान के सहयोग के बिना सम्भव नही है।

1.6.4 जीवाश्म विज्ञान

जीवाश्म विज्ञान के अन्तर्गत अति प्राचीन जीवाश्मों का अध्ययन किया जाता है। जीव विज्ञान तथा डी. एन. ए. (D.N.A.) के अध्ययन के द्वारा मानवीय विकास क्रम को समझने का प्रयास जारी है। अतीत में मानव कैसा दिखाई पड़ता था? एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का क्या स्वरूप था? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए भी कार्य किया जा रहा है। हड्डियों की किसी स्थान पर उपस्थिति से इनके रसोई, कसाईखाना, औजार निर्माण या मृत पशुओं के ढेर के होने का अनुमान लगाया जा

सकता है (सिंह, 2017 : 36)। महदहा पुरास्थल के एक भाग में बहुत से पशुओं की अधजली एवं खण्डित हड्डियाँ, सींग/श्रृंग तथा दाँत इत्यादि मिले जिसकी वजह से इसको 'वध–स्थल' अथवा 'बूचड़ खाना' कहा गया है (पाण्डेय, 2008 : 311)। जन्तुओं के अवशेषों से पर्यावरण के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है, जैसे– पुरातात्त्विक स्थल की जलवायु, वनस्पति तथा मौसम की जानकारी मिल सकती है। कभी–कभी जन्तुओं की हड्डी की उपस्थिति समुदायों के बीच सम्बन्ध को भी दर्शाती है, जैसे– समुद्री मछलियों की हड्डियों और शीपों को इनामगाँव में चिन्हित किया गया, जबकि यह स्थान समुद्र से 200 किमी0 दूर है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका समुद्र के तटवर्ती समुदायों से सम्बन्ध रहा होगा (सिंह, 2017 : 36)।

मनुष्य के दांतों की संरचना का अध्ययन कर उसके जीवन–निर्वाह पद्धति और भोज्य निर्माण के तरीके का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य की हड्डियों की ट्रेस एलीमेंट एनालिसिस और दांतों के एनामिल का स्कैनिंग इलेक्ट्रान माइक्रोस्कॉपिक (SEM) विश्लेषण के द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि उसका भोजन क्या था और वे किस प्रकार की पोषण सम्बन्धी अपूर्णता के शिकार थे। पुराविद जन्तु सम्बन्धी पुरावशेषों की व्याख्या के लिए पुराप्राणिविद् (Palaco-Zoolosist) से और वनस्पति सम्बन्धी साक्ष्यों की व्याख्या के लिए पुरा–वनस्पतिविद् (Palaco-Botanist) से सहायता लेता है। पुरातत्त्व में भी अब मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच सम्बन्ध को जानने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही है। उत्खनन में प्राप्त वनस्पति अवशेषों के अध्ययन से समकालीन समय में किस प्रकार के खाद्यान्न का प्रयोग किया, मनुष्य ने स्वयं को अपने पर्यावरण के साथ किस प्रकार ढालने का प्रयत्न किया तथा उसने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया इत्यादि का अनुमान लगाया जा सकता है। निरपेक्ष तिथि निर्धारण में अत्यन्त उपयोगी वृक्ष वलय विश्लेषण में वनस्पति विज्ञान का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पुरातात्विक स्थलों के पर्यावरण में अम्लीयता की अनुपस्थिति की दशा में वहा के वानस्पतिक परागकण सुरक्षित बच जाते है, जिनके विश्लेषण पर पुराविद् को प्रागैतिहासिक वनस्पति के प्रसार और जलवायु का ज्ञान प्राप्त होता है।

विज्ञान की कुछ अन्य शाखाएँ भी है जिनका प्रयोग पुरातत्त्ववेत्ता द्वारा पुरावशेषों की व्याख्या के लिए किया जाने लगा है जिसमें पुरा–विकृति विज्ञान या पुरा–रोग विज्ञान (Palaeo-Pathology) के द्वारा पुरामानव की हड्डियों का अध्ययन कर यह पता लगाते है कि इन्हें किस प्रकार के रोग या विकृति थी। मनुष्य की हड्डियों के विश्लेषण से जनसंख्या का आकार, घनत्व, मृत्युदण्ड, प्रजनन क्षमता तथा आयु सीमा का भी अनुमान किया जा सकता है। चूँकि पोषण के आधार पर

सामाजिक अवस्था का भी अनुमान लगाया जा सकता है, इसलिए पुरुष एवं महिला की हड्डियों के विद्यमान पोषक तत्वों के विश्लेषण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि क्या समुदायों के बीच वर्ग विभाजन था या नारी–पुरूष के बीच क्या सामाजिक भेद था? किन्तु उपरोक्त वैज्ञानिक पद्धतियों में विशेष प्रकार की प्रयोगशालाओं, कीमती उपकरणों तथा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों की आवश्यकता पड़ती है (सिंह, 2017 : 36–37)।

1.7 सारांश

इस तरह से देखा जाय तो जैसे–जैसे विज्ञान का विकास हो रहा है वैसे–वैसे नई तकनीकों का उद्भव भी हो रहा है, जिसके प्रयोग से मानव के उद्भव एवं विकास सम्बन्धित नये–नये तथ्य भी उजागर हो रहे है। पुरातत्त्ववेत्ता इन विज्ञानों से सहायता लेकर 'प्रागैतिहास' विषय को नये आयाम प्रदान कर रहा है। प्रागैतिहास का अध्ययन जितना ही पुष्ट होगा उतना ही अतीत चमत्कृत होगा, लोग अपने अतीत के प्रति जागरूक होगे और पुरावशेषों को संग्रहीत करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी और प्रागैतिहास अध्ययन पुष्ट होगा। जिससे पुरातत्त्विक विधा का भविष्य उज्जवल होगा और कुछ अनछुये एवं अनसुलझे प्रश्नों को प्रकाशित करने की उत्कण्ठा जागृत होगी।

1.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 और शीला कुसुमगर .1974. *प्रीहिस्टारिक क्रोनोलाजी एण्ड रेडियो कार्बन डेटिंग इन इण्डिया.* नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
5. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
6. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.

1.9 बोध प्रश्न

1. प्रागैतिहास से आप क्या समझते हैं परिभाषित कीजिये।
2. प्रागितिहास और अन्य विषयों के साथ संबंध की विवेचना कीजिए।
3. प्रागितिहास पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
4. प्रागितिहास का प्राकृतिक विज्ञान के साथ संबंध की विवेचना कीजिए।
5. प्रागितिहास का मानवकी विज्ञान के साथ संबंध की विवेचना कीजिए।

इकाई–2 प्रागैतिहास में काल निर्धारण की समस्या

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 काल निर्धारण की समस्या

2.3.1 अवशेशों का संदर्भ के साथ न मिलना

2.3.2 लिखित साक्ष्यों का न मिलना

2.3.3 तिथि विधि की सीमाएं

2.3.4 अस्थायी निवास और जीवन–यापन

2.3.5 कार्यविधि की अनिश्चितता

2.3.6 वस्तुओं के आकार–प्रकार का स्पष्ट न होना

2.4 सारांश

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.6 बोध प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

मानव का उद्भव पृथ्वी पर कब हुआ यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता, लेकिन पृथ्वी के इतिहास के चतुर्थक चरण के प्रातिनूतन काल को इसका श्रेय दिया जाता है। प्रतिनूतन काल से पहले तृतीयक चरण के अतिनूतन काल के अन्तिम अवस्था में भी मानव सदृश प्राणी के होने काउल्लेख मिलता है। मानव के इतिहास का प्रारम्भ तब से शुरू माना जाता है जब उसके द्वारा किसी कृति का निर्माण किया जाय और इसके प्रमाण सर्वप्रथम तंजानिया के ओल्डुवाई गार्ज से ओल्डवान उपकरणों के साथ होमो हैविलिस और फिर होमो इरेक्टस मानव प्राप्त होता है। भारतीय इतिहास का प्रारम्भ होमों इरेक्टस मानव की कृतियों की प्राप्ति से प्रारम्भ होता है जिसके प्रमाण सोहन नदी, बेलन नदी, नर्मदा नदी, मद्रास के पल्लवरम इत्यादि स्थानों से प्राप्त होते हैं और यहीं से भारतीय प्रागैतिहास का प्रारम्भ होता है। पुरावशेषों का यथेष्ट अध्ययन और काल निर्धारण ही प्रागैतिहास को चमत्कृत करेगा।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे

- प्रागैतिहासिक अध्ययन की समस्या के विषय में।
- प्रागैतिहासिक काल निर्धारण की समस्या को समझ सकेंगे।
- प्रागैतिहासिक संस्कृति से संबंधित अवशेषों की समस्या के विषय में।

2.3 प्रागैतिहास में काल निर्धारण की समस्या

आज से लगभग खरबों वर्ष पूर्व जब पृथ्वी की उत्पत्ति हुई तब जीवों के रहने योग्य नहीं थी लेकिन लाखों वर्षों के बाद जब पृथ्वी जीवों के जीवन के योग्य हुई तबसे लेकर आज तक जीवन और मरण का चक्र चलता रहा है, लेकिन जीवों के उद्भव का स्वरूप समय के साथ बदलता रहा। प्रारम्भ में एक कोशकीय बहुकोशकीय, सरीसृप तथा बाद में स्तनपायी जीवों का अस्तित्व पृथ्वी पर हुआ। इसी क्रम में मानव का उद्‌भव पृथ्वी पर होना, पृथ्वी के इतिहास में एवं मानव के उद्‌भव के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना थी। प्रागैतिहास के अध्ययन के लिए चतुर्थक चरण का बड़ा महत्व है। चतुर्थक काल का विभाजन प्रातिनूतन काल और नूतन काल में किया जाता है (वर्मा. 2001: 8–9)। प्रागैतिहास शब्द अंग्रेजी भाषा के Pre-history शब्द से बना है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग डेनियल विलसन द्वारा 1851 में अपनी पुस्तक 'दी आर्कियोलोजी एण्ड प्रिहिस्टोरिक एनल्स ऑफ स्कॉट लैण्ड' में किया गया (विल्सन. 1951: x-xxvi)। तब से मानविकी शास्त्र में एक नये विषय के रुप में प्रागैतिहास भी जुड़ गया।

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व के अन्तर्गत मानव इतिहास के उस काल के बारे में अध्ययन किया जाता है, जब लेखन कला का प्रचलन नहीं हुआ था। इस काल को प्रागैतिहासिक काल के नाम से जाना जाता है अर्थात् कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व, प्रागैतिहासिक काल के मानव के रहन–सहन और तौर–तरीकों का अध्ययन है। इस काल के बारे में जानकारी साहित्यिक श्रोतों के अभाव के कारण केवल भौतिक अवशेषों के माध्यम से होती है। इसलिए प्रागैतिहासिक संस्कृति को जानने में पुरातात्त्विक श्रोतों के साथ–साथ पुरातत्त्व विषय की महत्ता अहम हो जाती है। प्रागैतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में पूरे विश्व में कार्य किये जाने लगे और नये–नये पुरास्थल प्रकाश में आने लगे। हालांकि 1837 ई0 में फ्रांस की सोम(Somme) नदी घाटी से फ्रांसीसी पुरातत्त्वविद् जैक्स बाउचर डे पर्थेस ने चकमक पत्थर की हाथ की कुल्हाड़ी और पाषाण के कुछ अन्य टुकड़ों को प्राप्त किया था जो निश्चित आकार के थे। इन्होंने पहली बार यह प्रतिपादित

किया कि खोजे हुए ये उपकरण बहुत प्राचीन मानव द्वारा निर्मित है। इसी क्रम में 1856 ई0 में जर्मनी के Durseldorf (डुर्सेलडोर्फ) से एक ऐसे प्रस्तरीकृत अवशेष मिले है, जिसमें कपाल का भाग था तथा उसी क्षेत्र में दूसरी जगह से निचले जबड़े का भाग मिला। संरचना की दृष्टि से यह अवशेष न तो आज के वनमानुष से और न ही मानव में मिलते थे। पहले इसे किसी बीमार मानव का माना गया लेकिन बाद में प्राप्ति स्थल के आधारपर इसे नियंडरथल मानव (Neanderthal Man) का माना जाने लगा। 1859 ई0 में चार्ल्स डार्विनने अपनी पुस्तक 'The origin of species by means of Natrual Seleciton) में इसका विवरण दिया। प्रारम्भ में इसका विरोध हुआ। इसके कारण एक तरफ मानव के शारीरिक स्वरूप को भी एकत्र किये जाने का प्रयास होने लगा। अतः मानव के प्रस्तरीकृत अवशेषों की खोज प्रारम्भ हुई। यह प्रागैतिहास का महत्वपूर्ण पक्ष था। इन वैज्ञानिक आविष्कारों ने प्रगैतिहास की धारा को आगे बढ़ाने का कार्य किया। धीरे–धीरे पूरे यूरोप, अफ्रिका, एशिया और साथ ही साथ भारत में भी प्रागितिहासिक अनुसंधान शुरू हुआ। भारत 1863 ई0 में राबर्ट ब्रुस फूट ने मद्रास के पल्लवरम् नामक स्थान से पुरापाषाणिक उपकरण खोज कर प्रागैतिहासिक अध्ययन का श्रीगणेश किया। इसलिए रार्बट् ब्रुस फुट को भारतीय प्रागैतिहास का पिता भी माना जाता है। ब्रुसफूट का 40 वर्षों का संग्रह मद्रास संग्रहालय में संग्रहित है (मैटिलेट, 1903 : 38)। तब से लेकर आज तक भारत के विभिन्न भागों से प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व से सम्बन्धित प्रमाण प्रतिवेदित होते रहे हैं। भारतीय इतिहास का प्रारम्भ मानवसम प्राणी की कृतियों की प्राप्ति से ही होता है जिसके प्रमाण सोहन नदी, बेलन नदी, नर्मदा नदी, मद्रास के पल्लवरम् इत्यदि स्थानों से प्राप्त होते हैं। भारत में प्रागैतिहास का कालखण्ड प्रारम्भ से लेकर लगभग 3000 ई0पू0 तक माना जाता है।

इतने लंबे कालखंड का काल निर्धारण प्राप्त अवशेषों की प्राप्ति, आकार–प्रकार, स्तरीकरण एवं कुछ निरपेक्ष तिथि विधि के माध्यम से किया गया है एवं किया भी जा रहा है, लेकिन निरपेक्ष तिथि विधि की अपनी कुछ सीमाएं हैं। अवशेषों का संदर्भ के साथ न मिलना, वस्तुओं के आकार प्रकार का स्पष्ट न होना, लिखित साक्ष्यों का न मिलना, कार्यविधि की अनिश्चितता, अस्थायी निवास इत्यादि संबंधी प्रागैतिहासिक काल निर्धारण में समस्याएं आती हैं, जिनका विस्तृत विवरण निम्नवत् है–

2.3.1 अवशेशों का संदर्भ के साथ न मिलना

प्रगैतिहास के अध्ययन और काल निर्धारण के लिए भौतिक अवशेषों का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि इस काल में शाब्दिक स्रोतों का अभाव होता है।इसलिए पुरातात्त्विक उत्खनन एवं खोजों के माध्यम से प्राप्त और भौतिक

अवशेषों के आधार पर ही प्रागैतिहासिक काल की जानकारी होती है और तिथि निर्धारण के लिए भी इन भौतिक अवशेषों का सहारा लिया जाता है। जब ये भौतिक अवशेष संदर्भ के साथ प्राप्त होते हैं तो काल निर्धारण में आसानी होती और उनके संपूर्ण संदर्भ का ध्यान रखते हुए कॉल निर्धारण किया जाता है। भौतिक अवशेष जब अपने संदर्भ के साथ नहीं प्राप्त होते हैं तो इनका काल निर्धारण करना मुश्किल हो जाता है क्योंकि प्रागैतिहासिक काल के प्रारंभिक चरण का कालखंड लगभग 1,00,000 ईसा पूर्व से पहले का है जिसका निरपेक्ष काल निर्धारण किया जाना मुश्किल होता है। जब ये भौतिक अवशेष संदर्भ के साथ प्राप्त होते हैं तो तुलनात्मक पद्धति द्वारा काल निर्धारण किया जाता है। उत्खनन के माध्यम से कुछ ऐसी वस्तुएं प्राप्त होती है, जिन पर कुछ ही तिथि विधि का प्रयोग किया जाता है जैसे जिन वस्तुओं में कार्बन के तत्व विद्यमान होते हैं उन पर कार्बन 14 तिथि विधि का प्रयोग किया जाता है। इससे यह कहा जा सकता है कि जब पाषाण वस्तुएं एवं अन्य अवशेष संदर्भ के साथ प्राप्त हो तो उनका काल निर्धारण करना आसान होता है।

2.3.2 लिखित साक्ष्यों का अभाव

प्रागैतिहासिक काल वह काल है जिसके बारे में जानने के लिए कोई लिखित साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है। भारत में प्रायः सभी पाषाण युगीन सभ्यताओं को प्रागैतिहासिक काल में, धातुयुगीन सभ्यताओं को, जिनके विषय में लिखित साक्ष्य तो है लेकिन लिखित प्रमाणों से प्रकाश नहीं पड़ता है आद्यऐतिहासिक काल में तथा उसके बाद की अथवा जिन सभ्यताओं के सम्बन्ध में लिखित प्रमाणों से प्रकाश पड़ता है, उन्हें ऐतिहासिक कालीन सभ्यताओं के अन्तर्गत रखा जाता है (वर्मा. 2001: 1–2)।

प्रागैतिहासिक मानव का जीवन पूर्णतः प्रकृति की कृपा पर निर्भर होता है। भारतीय समाज में अभी भी एक ऐसा समुदाय है जिसका जीवन प्रकृति द्वारा प्रदत्त संसाधनों पर ही निर्भर है जिसे जनजाति समुदाय कहा जाता है। ये जनजाति समुदाय ऐसे क्षेत्रों में अपना निवास बनाते हैं जहाँ पर जीवन–यापन करने के आवश्यक संसाधन प्रकृति द्वारा उपलब्ध है। प्रागैतिहासिक मानव द्वारा भी अपना निवास गुफाओं, कन्दराओं, शैलाश्रयों, पहाड़ों, नदी घाटियों तथा झीलों के किनारे बनाया गया था ताकि जीवन–यापन की आवश्यक वस्तुएँ आसानी से प्राप्त हो सके। प्रागतैतिहासिक मानव के बारे में जानकारी के स्रोत प्रमुखतः पाषाण के उपकरण के रूप में प्राप्त होते हैं इसलिए प्रागैतिहासिक काल को पाषाण काल भी कहा जाता है। इस काल को तीन भागों में विभाजित किया गया है–पुरापाषाण

काल, मध्यपाषाण काल और नवपाषााण काल (वर्मा, 2001 : 35)। पुरापाषाण काल कोनिम्न पुरापाषाण मध्य पुरापाषाण और उच्च पुरापाषाण कालमें विभाजित किया गया। पुरापाषाण काल के ये तीन चरण उस जमाने में पाये गये प्राणीयों में हुए परिवर्तनों पर आधारित है (भट्टाचार्य 1999, पुर्नमुद्रण 2007 : 81)। इन सभी कालों के बारे में जानने के लिए लिखित साक्ष्य नहीं मिलता है, जिससे काल–निर्धारण मुश्किल होता है।

2.3.3 तिथि विधि की सीमाएं

तिथि निर्धारण की ज्यादातर विधियों द्वारा ज्यादा से ज्यादा 40,000 ईसा पूर्व तक की तिथि का निर्धारण किया जा सकता है। कुछ ऐसी विधियांहै जो लंबे समय के कालखंड का निर्धारण कर सकती हैं। परन्तु जो अवशेष प्राप्त हों वहा पर उन तथ्यों की विद्यमानता होना आवश्यक होता है, उदाहरण के लिए के पोटैशियम–आर्गन तिथि द्वारा लावा की राख के ऊपर लाखों वर्षों तक की तिथि का निर्धारण किया जा सकता है, परंतु जो अवशेष नदी घाटी या मैदानी क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं, जिसमें पोटैशियम–ऑर्गन विद्यमान नहीं होता है। उनका तिथि निर्धारण इस विधि द्वारा किया जाना मुश्किल होता है। वैसे ही यदि कार्बन चौदह तिथि विधि की बात करें तो इस विधि द्वारा 40,000 ईसा पूर्व और ज्यादा से ज्यादा 70,000 ईसा पूर्व तक की तिथि का निर्धारण किया जा सकता है और इसके लिए आवश्यक है कि जो भौतिक अवशेष है उसमें कार्बन की मात्रा विद्यमान हो। यदि कार्बन की मात्रा विद्यमान न होगी तो उन तत्वों या भौतिक अवशेषों पर कार्बन चौदह तिथि भी का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। इस तरह से देखा जाए तो निरपेक्ष तिथि विधि द्वारा प्रागैतिहासिक काल की तिथि का निर्धारण करना दुरुह कार्य है। ऐसी स्थिति में सापेक्ष तिथि विधि द्वारा तिथि का निर्धारण किया जा सकता है परन्तु उसके लिए अवशेषों का प्राकृतिक संदर्भ के साथ प्राप्त होना अति आवश्यक होता है। अतः हम कह सकते हैं कि तिथि विधि की अपनी कुछ सीमाएं हैं जिससे प्रागैतिहासिक काल का निर्धारण करना संभव नहीं हो पाता है।

2.3.4 अस्थायी निवास और जीवन–यापन

पुरापाषाण कालीन मानव का जीवन पूर्णतः शिकार पर, मध्यपाषाण कालीन मानव का जीवन आखेट एवं जंगली अनाज के दानों के संग्रह पर तथा नवपाषाण कालीन मानव का जीवन पशुपालन और कृषि पर आधारित था। इसी तरह की स्थिति जीवन–यापन कर रही कुछ जनजातियों में भी दिखाई देता है। इन जनजातियों का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना की यहाँ की सभ्यता का। भारत के वन प्रदेशों तथा पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाले अनेक मानव समुदाय मानव सभ्यता के विकासक्रम में विभिन्न कारणोंवश पृथक रह गये फलतः उनका

विकास नहीं हो पाया। इन दुर्गम और पृथक क्षेत्रों में निवास करने वाले मानव समुदाय सभ्यता की विकास की दृष्टि से अभी तक प्रारम्भिक सोपानों पर ही हैं। इन्हीं समुदायों के विकसित लोगों द्वारा आदिवासी, जनजाति, आदिम जाति, वनवासी इत्यादि नामों में अभिहित किया जाता है। प्रागैतिहासिक काल भी मानव इतिहास का प्रारम्भिक सोपान है। अतः प्रागैतिहासिक संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों को समझने के लिए वर्तमान में इस तरह का जीवन–यापन करने वाली जनजातीय समुदायों का अध्ययन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसी को एथनोग्राफिक स्टडीज अर्थात् जीवन दृष्टान्तों के आधार पर प्रागैतिहासिक अध्ययन कहा जाता है। प्रागैतिहासिक मानव का जीवन अस्थाई था इसलिए एक स्थान पर माानव जीवन के प्रारम्भिक साक्ष्य नही मिल पाते है।

2.3.5 अवशेषों की उपयोगिता/महत्ता का अनिश्चित होना

प्रागैतिहासिक काल के तिथिकरण और व्याख्या में कई प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं। यह निश्चित करना भी बहुत मुश्किल हो जाता है कि एक वस्तु सिर्फ उपयोग में आने वाली सामान्य वस्तु थी या उसका कोई कर्मकांडीय महत्त्व भी था उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के बेलन घाटी में बहने वाले लोहदा नाला के पास उच्च पुरापाषाण काल के स्तर से हड्डी से बना एक नक्कासीदार वस्तु प्राप्त हुआ जिसे कुछ विद्वान मातृ देवी की मूर्ति मानते हैं और कुछ बरछी(हारपून) मानते है। इसी प्रकार कर्नूल से प्राप्त जानवर के दांत में छिद्र पाया गया है, जिसका प्रयोग शायद किसी आभूषण के रूप में किया जाता होगा। भीमबैठका से प्राप्त चाल्सेड़नी की बनी डिस्क तथा मैहर से प्राप्त चूना पत्थर की डिस्क अच्यूलियन संस्कृति के संदर्भ में प्राप्त की गई है किंतु दोनों का उपयोग किसी औजार के रूप में नहीं किया गया था। पाटने से प्राप्त शुतुरमुर्ग के अंडे के एक टुकड़े पर आड़ी तिरछी रेखाओं की दो सेट का चित्रांकन किया हुआ पाया गया है। चार छिद्रमय मनके और अंडे की खोल से बना एक अधूरा मनका भी पाटने और भीमबैठका के शैलाश्रयों से मिला है और ये सभी उच्चपुरापाषाण कालीन संदर्भ से हैं।

2.3.6 उपकरणों के आकार–प्रकार एवं स्वरूप

पाषाण उपकरण अथवा अन्य भौतिक अवशेष जब उत्खनन एवं खोज के माध्यम से प्राप्त होते हैं तो कभी–कभी पाषाण उपकरण, अस्थि उपकरण एवं अन्य अवशेषों का आकार–प्रकार एवं स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। ये अवशेष जमीन में दबे रहने के कारण टूट जाते हैं या फिर उनके ऊपर काई इत्यादि लग जाती है। इस वजह से उपकरण का मूल स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। यदि उनकी संरक्षण की बात की जाए तो कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जिनका संरक्षण नहीं किया जा सकता है। संरक्षण करने से ये वस्तुएँ खराब होने लगती है। जबकि कभी किसी पुरास्थल से उपकरण बनाने के उद्योग की प्राप्ति होती है तब जाकर उनके वास्तविक स्वरूप को पुनर्निर्मित करके समझा जा सकता है एवं उसके आधार पर तिथि का निर्धारण भी किया जा सकता है। लेकिन जब वस्तुओं का आकार–प्रकार और स्वरूप निश्चित होता है तो सापेक्ष तिथि विधि से काल निर्धारण किया जा सकता है।

इसके अलावा काल निर्धारण से संबंधित प्रयोगशाला का अभाव, प्रागैतिहासिक अध्ययन से संबंधित संस्थानों की कमी एवं प्रागैतिहास से संबंधित साक्ष्यों का दुरुह

क्षेत्रों में मिलना इत्यादि भी प्रागैतिहासिक काल के यथेष्ट काल निर्धारण में समस्या के रूप में सामने आते हैं।

2.4 सारांश

इस प्रकार उपयुक्त विवरण के आधार पर देखा जाए तो प्रागैतिहास काल निर्धारण अत्यंत आवश्यक पक्ष है परन्तु कभी–कभी काल निर्धारण की जो विधि है उनकी अपनी सीमाओं के कारण यथेष्ट या वर्षों में काल निर्धारण संभव नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में सापेक्ष तिथि विधि के माध्यम से काल निर्धारण कर प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक महत्त्व को स्थापित करने का प्रयास किया जाता है हालांकि वर्तमान समय में हो रहे नित्य विज्ञान के आविष्कार के साथ ही काल निर्धारण की विधि भी विकसित हो रही है जो आगे आने वाले समय में प्रागैतिहासिक काल निर्धारण की समस्या को दूर करने में सहायक होगी।

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
4. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.
5. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
6. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

2.6 बोध प्रश्न

1. प्रागैतिहास के अध्ययन में आने वाली समस्याओं की विवेचना कीजिए।
2. प्रागैतिहास में काल निर्धारण की समस्या पर प्रकाश डालिए।

इकाई–3 पुरापाषाण कला– शैल चित्र

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 पुरापाषाण कला– शैल चित्र

3.4 विशेषताएं

3.5 शैलचित्र कला के क्षेत्र एवं खोज

3.6 भीमबेटका

3.7 आदमगढ़

3.8 चित्रांकन विधि तथा उद्देश्य

3.9 सारांश

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.11 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

कला के इतिहास की शुरुआत पुरापाषाण काल से मानी जा सकती है। शैलचित्रों से पुरापाषाण–कालीन कला का प्रतिनिधित्व होता है, शैलचित्रों में 'पेट्रोग्लिफ' भी सम्मिलित है जिसका विशेष अभिप्राय ऐसी कला से है, इसमें चट्टानों पर आकृति बनाने के लिए आवश्यकतानुसार छेनी–हथौड़ी मारकर या खुरचकर उसको किसी माध्यम से उकेरा जाता है। पुरापाषाणकालीन कला में शैलचित्रों जैसे स्थाई माध्यम तथा प्रतिमाओं जैसी चलायमान माध्यम दोनों का ही सृजन हुआ है। ऐसे अवशेष प्रागैतिहासिक सामुदायिक जीवन के महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग थे और इनमें से कुछ का निश्चित रूप से धार्मिक और किसी न किसी प्रकार का साम्प्रदायिक महत्त्व भी अवश्य रहा होगा।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरापाषाणिक चित्रकला के विषय में।
- पुरापाषाणिक शैलचित्र कला की विषय वस्तु को।
- पुरापाषाणिक संस्कृति के दृश्य साक्ष्य के विषय में।

3.3 पुरापाषाण कला– शैल चित्र

जब हम पुरापाषाणकालीन शैल चित्रकला की बात करते हैं तो पाते है कि इस काल के अंतिम चरण अर्थात उच्च पुरापाषाण काल में मानव ने गुफाओं में रेखीय चित्रण की परंपरा की शुरुआत की थी। पुरापाषाण काल, पाषाणकाल का प्रारंभिक चरण है। इस काल में मानव का जीवन–यापन आखेट अथवा जानवरों के शिकार पर निर्भर था। इस काल में मानव द्वारा पत्थर के उपकरणों को बनाने की पद्धति ज्यादा दिखाई पड़ती है अर्थात हम कह सकते हैं कि पुरापाषाण काल मानव के जीवन का प्रारंभिक चरण था, जिस दौरान मानव ने किसी कृति का निर्माण करना शुरू किया। प्रारंभ में चित्रण की परंपरा नहीं दिखाई देती है लेकिन जैसे–जैसे मानव का विकास होता गया वैसे–वैसे मानव के सांस्कृतिक चेतना का विकास भी होता गया और इसी प्रक्रिया में इस काल के उत्तरवर्ती चरण में चित्र बनाने की परंपरा की शुरुआत भी दिखाई देती है।

3.4 विशेषाताएं

यूरोप, ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका, इन तीनों महादेशों में पूरा पाषाण युगीन कला की पर्याप्त उपलब्धि विशेषकर शैलचित्रों के रूप में देखी जा सकती है। इन शैलचित्रों में जंतुओं का चित्रांकन सर्वाधिक प्रचलित था। कुछ चित्र आखेट संबंधी कर्मकांड से भी प्रतीत होते हैं। नारी स्वरूप को प्रदर्शित करती प्रतिमाओं को विद्वानों ने वीनस की संज्ञा दी है किंतु भारत के पुरापाषाण युगीन कला की सर्वथा अनुपस्थिति कही जा सकती है ऐसा इनके नश्वर माध्यमों के प्रयोग के कारण हो सकता है। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि भीमबैठका से प्राप्त एकाधिक शैलचित्र उच्च पुरापाषाण काल के हो सकते हैं किंतु अभी भी यह पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो पाया है। प्रागैतिहासिक कला की तिथिकरण और व्याख्या में कई प्रकार की समस्याएं सामने आती है। यह निश्चित करना भी बहुत मुश्किल हो जाता है कि एक वस्तु सिर्फ उपयोग में आने वाली सामान्य वस्तु थी या उसका कोई कर्मकांडीय महत्त्व भी था उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के बेलन घाटी में बहने वाले लोहदा नाला के पास ऊपरी पुरापाषाण काल के स्तर से अत्याधिक हड्डी से बना एक नक्कासीदार वस्तु प्राप्त हुआ जिसे कुछ विद्वान मातृ देवी की मूर्ति मानते हैं और कुछ हारपून मानते है। इसी प्रकार कर्नूल से प्राप्त जानवर के दांत में छिद्र पाया गया है, जिसका प्रयोग शायद किसी आभूषण के रूप में किया जाता होगा। भीमबैठका से प्राप्त चाल्सेड़नी की बनी डिस्क तथा मैहर से प्राप्त पत्थर की डिस्क अच्यूलियन परिस्थिति के संदर्भ में प्राप्त की गई है किंतु दोनों का उपयोग किसी औजार के रूप में नहीं किया गया था। पाटने से प्राप्त शुतुरमुर्ग के अंडे के एक टुकड़े पर आड़ी तिरछी रेखाओं की दो सेट का चित्रांकन किया हुआ पाया गया है। चार छिद्रमय मनके और अंडे की खोल से बना एक अधूरा मनका भी पाटने और भीमबैठका के शैलाश्रयों से मिले हैं और ये सभी उच्च पुरापाषाण कालीन संदर्भ से हैं।

कला और कर्मकांड संबंधी गतिविधियों का एक साक्ष्य भीम बैठका के गुफा संख्या III F–24 से प्राप्त हुआ है, जिसे ऑडिटोरियम केव या सभाकक्ष गुफा का नाम दिया गया है। इसकी तिथि निम्न–मध्य पुरापाषाण युग के बीच की तय की गई है। शैल कला (आदिमानव द्वारा पत्थरों पर उकेरे गए विभिन्न के प्रकार चित्र), जो प्राकृतिक पत्थर संरचनाओं पर पेंटिंग और नक्काशी है, रचनात्मक अभिव्यक्ति के शुरुआती रूपों में से एक है और प्रागैतिहासिक समाजों के बीच एक सार्वभौमिक घटना है। यह केवल कला के बजाय संचार का एक साधन भी हो सकता है यह भौतिक संस्कृति का एक संयोजन है जो उन लोगों के जीवन को जानने का स्रोत है जिन्होंने उन्हें चित्रित किया है। कला स्वयं को व्यक्त करने का एक शक्तिशाली उपकरण है, और शैलचित्र कला प्रागैतिहासिक दिमाग में एक ज्योति है क्योंकि पेंटिंग कल्पना, रचनात्मकता, भावनाओं और कोमलता को दर्शाती हैं। प्रागैतिहासिक समाजों की संस्कृति, रीति–रिवाजों, परंपराओं और जीवन का अध्ययन करने के लिए शैलचित्र कला प्राथमिक स्रोत है। एक बहु–विषयक दृष्टिकोण में, वैज्ञानिक चित्रों को समझने करने का प्रयास करते हैं जबकि कलाकार उनके पीछे के अर्थ की तलाश करते हैं।

शैलचित्र कला की तीन अलग–अलग श्रेणियां हैं–

- पेट्रोग्लिफ्सः चट्टान की सतह पर नक्काशी, मूर्तिकला या नक्काशी।
- चित्रलेखः चट्टानों पर और शैल आश्रयों के अंदर की पेंटिंग या चित्र।
- चट्टानों को संरेखित या ढेर करके बनाई गई डिजाइन, पैटर्न या मूर्तियां है।

3.5 शैलचित्र कला के क्षेत्र एवं खोज

भारत में उपलब्ध शैल कला का दायरा, शैली और विषयवस्तु की दृष्टि से व्यापक और विविध दोनों है। इसके कालक्रम का पता उच्च पुरापाषाण युग से लेकर ऐतिहासिक काल तक लगाया जा सकता है और आज के आदिवासी समुदायों की थोड़ी झलक मिल सकती है। भारत में, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, केरल, उत्तराखंड, बिहार और कर्नाटक जैसे कई प्रान्तों में स्थित गुफाओं की दीवारों पर शैल चित्रों के अवशेष पाए गए। कैमूर पहाड़ियों, सतपुड़ा और विंध्य में स्थित मध्य भारत शैलचित्र कला का सबसे समृद्ध क्षेत्र है। ये पहाड़ियाँ बलुआ पत्थर से बनी हैं, जिनमें घने वन क्षेत्र में स्थित शैलाश्रय हैं। ये पाषाण युग में और बाद के समय में अपना लिया गया था क्योंकि वे पारिस्थितिक रूप से आदर्श थे।

1867–68 ईस्वी में, अंग्रेजी पुरातत्वविद् आर्चीबाल्ड कार्लाइल ने स्पेन में अल्तामिरा की मान्यता से बारह साल पहले भारत में प्रागैतिहासिक शैलचित्रों की खोज की थी। दुर्भाग्य से, उनकी खोजों को प्रकाशित नहीं किया गया था।

कार्लाइल को मिर्जापुर जिले के सोहागीघाट में शैल आश्रयों की छत और दीवारों पर चित्र मिले। भारत में प्रागैतिहासिक काल की चित्रकला की खोज सर्वप्रथम अंग्रेजों ने की, जो यहाँ शासन करने के उद्देश्य से आए थे इसका श्रेय आर्चीबाल्ड कार्लाइल तथा जॉन काकबर्न को दिया जा सकता है। काकबर्न ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के जॉर्नल में 1883 में अपने शोध का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि प्रागैतिहासिक चित्रकला में बारहसिंगा, गैंडा शांभर के चित्र प्राप्त हुए हैं। सी0ए0 सिलबेराड ने सरतह तथा करपटिया नामक गांव के पास से शिलाचित्रों का पता लगाया इसमें पहिया रहित गाड़ी तथा पैदल चलते हुए अश्वारोहियों के चित्र प्रसिद्ध है।

1956–57 ईस्वी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर जी.आर. शर्मा ने लेखहिया, कडाकोट इत्यादि के शैलाश्रयों में देखे गए चित्रों का उल्लेख किया है। कड़ाकोट के एक शैलाश्रय में चार व्यक्तियों के एक समूह में नृत्य, हिरण के शिकार का दृश्य तथा बिखरे बालों वाले एक व्यक्ति का नृत्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद में, रायसेन, खरवई, भोपाल, नरवर, चिकलोद, आदमगढ़, भीमबेठका, नागोरी–सांची, कठोहिया, फिरंगी, बोरी और अन्य मध्य भारतीय क्षेत्रों में स्थलों का पता लगाने के व्यापक प्रयासों ने ज्वलंत चित्रों को प्रकाश में लाया है। 'तामिया' और 'पंचमढ़ी' के बीच, चित्रित गुफाओं का एक नया समूह खोजा गया है, जो मध्य प्रदेश की अन्य शैल गुफाओं में पाए जाने वाले चित्रकला के समान हैं।

3.6 भीमबेटका

एक प्रसिद्ध पुरातत्वविद् और भारतीय शैल कला के मर्मज्ञ विष्णु श्रीधर वाकणकर ने 1957 ईस्वी में भीमबेटका (एक यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल) के शिलाश्रयों एवं गुफाओं की खोज की तथा 1972 ईस्वी में यहाँ उत्खनन करवाया गया था। इस खोज ने मध्य प्रदेश में शैल कला की नियति बदल दी, जिन्होंने भोपाल, ग्वालियर आदि के समीपवर्ती क्षेत्रों में स्थित अनेक शैलाश्रयों एवं उनमें अंकित चित्रों की खोज की। उनकी विशिष्ट खोज होशंगाबाद और भोपाल के बीच स्थित भीमबेटका की गुफाएं है जहाँ से बड़ी मात्रा में पुरातत्विक अवशेष मिले हैं। यहाँ स्थित 600 से अधिक गुफाओं से 475 में शिलाचित्र प्राप्त हुए है। अधिकांश चित्रों का समय मध्यपाषाण काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक है। अधिकतर चित्र लाल तथा हरे रंग के हैं। इनमें गैंडा, चीता, जंगली सुअर, गाय, बैल, भैस, बंदर, हिरण, सांभर आदि पशुओं का कलात्मक अंकन किया गया है। कुछ चित्रों में नृत्य, आभूषण, माता–पुत्र, आखेट तथा विभिन्न भेषभूषा का प्रदर्शन मिलता है। भीमबैठका के शिलाचित्र शैली तथा विषयवस्तु की दृष्टि से तत्कालीन मानव जीवन की सुंदर झांकी प्रस्तुत करते हैं। इनमें मुख्य विषय है वन्य जीवों का आखेट, धार्मिक अनुष्ठान और पूजा आकृतियाँ। मध्यपाषाणिक स्तरों से मानव शवाधान के

भी दो उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार कला और पुरातत्व दोनों ही दृष्टि से भीम बैठका की गुफाएं महत्वपूर्ण है।

3.7 आदमगढ़

आदमगढ़ पहाड़ियाँ होशंगाबाद शहर से 2 किमी दक्षिण में नर्मदा नदी के पास स्थित हैं। 1922 ईस्वी में मनोरंजन घोष द्वारा आदमगढ़ रॉक शेल्टर की खोज की गई थी। आगे के शोध डी.एच. गॉर्डन और मित्रा (1927 ईस्वी), सिलबराड (1932 ईस्वी), ब्राउन (1932 ईस्वी), और हंटर (1935 ईस्वी) जैसे अन्य पुरातत्वविदों द्वारा किए गए थे। आदमगढ़ में लगभग 18 शैलाश्रय हैं तथा 11 आश्रयों में दृश्य चित्र हैं, अन्य समय के साथ फीके पड़ गए हैं और कुछ पर्यटकों द्वारा बर्बरता के कारण नष्ट प्राय हैं। आश्रयों में ज्यादातर लघु चित्र हैं और शैलाश्रय संख्या 10 विभिन्न कालखंडों के चित्रों के अध्यारोपण के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण है।

चित्र सरल और कलात्मक हैं, और ज्यादातर मामलों में, भौतिक अनुपात के किसी भी विवरण के बिना है। लाल, गहरे भूरे, छायादार भूरे और सफेद रंग में चित्रित, मानव आकृतियों को केवल रूपरेखा में चित्रित किया गया है, जबकि जानवरों की आकृतियों में थोड़ा अधिक विवरण होता है। मनुष्यों और जानवरों की गतिविधियों को असाधारण रूप से दीवारों पर दर्शाया गया है। जिसकी तुलना ऑस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, पूर्वी स्पेन और दक्षिण अमेरिका के कई चित्रों से की जा सकती है। युद्ध के दृश्यों के अलावा, घोड़े की पीठ पर सवार, धनुष और तीर वाले सैनिक, तरकश और म्यान, बैल, बंदर, घोड़े, मछली, मोर और एक मामले में जिराफ जैसे कई जानवरों के चित्र हैं। पेड़ों के चित्र भी मिले हैं, लेकिन विवरण के अभाव में पहचान की प्रक्रिया कठिन हो जाती है।

शैलाश्रय संख्या 1 सबसे छोटा आश्रय है लेकिन गहरे लाल और लाल गेरू में कई आकृतियों के चित्रण के साथ। समय के साथ सभी पेंटिंग फीकी पड़ गई हैं, केवल दो ही बचे हैं। एक 12 सींग वाले हिरण का चित्रण है और दूसरा गहरे भूरे रंग के घोड़े की एक यथार्थवादी पेंटिंग है जिसमें हवा में अग्र पैर हैं।

शैलाश्रय संख्या 2में कई फीकी पेंटिंग्स में से केवल दो आकृतियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। लाल गेरू में पीछे की दीवार के केंद्र पर लंबे सींगों वाला एक बड़ा चित्तीदार हिरण चित्रित किया गया है। बाएं कोने में, एक छोटे से वक्र के साथ एक बिच्छू जैसी सूंड के साथ एक हाथी का एक अजीबोगरीब चित्र पाया गया है।

शैलाश्रय संख्या 3 में लाल गेरू रंग में रंगी हुई दो चौड़ी सींग वाली गायें दिखाई दे रही हैं। एक मात्र रूपरेखा है जबकि दूसरा ठोस है।

शैलाश्रय संख्या 4 समूह का सबसे बड़ा और सबसे सुन्दरशैलाश्रय है। दीवार लाल गेरू में विभिन्न चित्रों से भरी हुई है, जो अंधेरे से पीले रंग की छाया से भिन्न है, और विवरण ज्वलंत और सुंदर हैं। इनमें निम्नलिखित चित्रो को दर्शाया गया है–

- तलवारों और ढालों से लड़ रहे दो आदमी। एक तलवार पत्ते की तरह है जिसमें स्पष्ट रूप से सचित्र पसलियां हैं।
- एक आदमी धनुष और बाण से बैल का शिकार कर रहा है।
- एक नाचता हुआ मोर।
- एक बैल हमला करने के लिए तैयार है, जिसके सींग जमीन की ओर हैं। यह पेंटिंग 3 मीटर लंबी और 2 मीटर चौड़ी है।
- घुड़सवारी करते सैनिक।

शैलाश्रय संख्या 5 में लाल गेरू में खींची गई केवल एक पेंटिंग दिखाई दे रही है।

शैलाश्रय संख्या 6 में युद्ध के दृश्य का चित्रण है– लाल और सफेद रंग में रंगे हुए धनुष और बाणों से लड़ते हुए पुरुष।

शैलाश्रय संख्या 7 में तीन चित्र पाए जा गये हैं, जो रूपरेखा के साथ खींचे गए हैं और अंदरूनी भाग क्रॉस–क्रॉस लाइनों से भरे हुए हैं।

शैलाश्रय संख्या 8 में लाल गेरू से बने पेंटिंग में तीन पुरुषों को दौड़ते हुए दिखाया गया है।

शैलाश्रय संख्या 9 एक विशाल शैलाश्रयहै जिसमें सफेद रंग में बहुत कम पेंटिंग हैं। एक में बारह सींग वाले हिरण और दूसरे में घोड़े को दर्शाया गया है।

शैलाश्रय संख्या 10 में चित्र अच्छी तरह से संरक्षित हैं क्योंकि वे जमीन से ऊपर और छत पर स्थित हैं। कई युद्ध के दृश्यों को लाल गेरू में चित्रित किया गया है जिसमें कई जानवरों की आकृतियों जैसे बैल, घोड़े और एक जिराफ चित्रित हैं, जो काफी असामान्य है।

शैलाश्रय संख्या 11 सबसे बड़े आश्रयों में से एक है लेकिन इसमें बहुत कम पेंटिंग हैं।

3.8 चित्रांकन विधि तथा उद्देश्य–

प्रागैतिहासिक मानव ने शिलाश्रयों में चित्रों को बनाते समय अत्यंत सरल विधियां अपनाई है। प्रकृति से प्राप्त खनिज पदार्थों में गेरू, रामरज, कोयला, खड़िया इत्यादि के माध्यम से ही रेखांकन तैयार किया गया है। खड़ी, पड़ी, तिरछी, आयताकार रेखाओं के द्वारा मानव आकृतियां बनाई गई है। त्रिभुज, आयत, वृत्त जैसी ज्यामितीय आकृतियां भी बनाई गई है। कहीं कहीं आकृति की सीमा

रेखा को नुकीले पत्थर से खुरेच कर बनाया गया है, जिससे वह स्थायी रह सके। उच्च पुरापाषाण काल के मानव ने केवल भित्तियों पर सुंदर चित्र ही नहीं बनाए अपितु मैदानी क्षेत्रों में भी कलाकृतियों का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

3.9 सारांश

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल के प्रारंभिक चरण पुरापाषाण काल के अंतिम पड़ाव उच्च पुरापाषाण काल में मानव ने शैल चित्रों को बनाना शुरू कर दिया। इसके अलावा कला के अन्य आयामों की झलक भी इस काल में दिखाई देनी शुरू हो जाती है। यद्यपि भारत में कला के विविध अंगो का सम्यक विकास सिंधु सभ्यता में ही हुआ तथापि प्रागैतिहासिक काल के मानव ने इसके लिए उपयोगी पृष्ठभूमि काफी पहले से तैयार कर दी थी। इसकी सरलता, सुगमता, सूक्ष्म रेखांकन शैली इत्यादि आधुनिक काल की कला के लिए प्रेरणा एवं आदर्श प्रस्तुत करती हैं। आगे चल कर शैल चित्रकला के विकास में प्रागैतिहासिक शैल चित्रकला की तकनीकी और विषयवस्तु कुछ परिवर्तनों के साथ दृश्यमान होती है।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल,वासुदेव शरण. भारतीय कला
2. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
3. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
4. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
5. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
6. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

3.11 बोध प्रश्न

1. प्रागैतिहासिक शैलचित्र कला पर प्रकाश डालिए।
2. प्रागैतिहासिक शैलचित्र कला की विषय वस्तु की विवेचना कीजिए।

इकाई–4 निम्न पुरापाषाण कालः चॉपर–चॉपिंग और हैंड–ऐक्स, क्लीवर

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 निम्नपुरापाषाण काल

4.4 चॉपर–चॉपिंग और हैंड–ऐक्स, क्लीवर

4.5 पैसरा

4.6 बेलन नदी घाटी

4.7 सोन नदी घाटी

4.8 सांराश

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.10 बोध प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

भारत में सर्वप्रथम राबर्ट ब्रुस फुट ने 1863 ई0 में मद्रास के समीपस्थ पल्ल्वरम् नामक स्थान से पुरापाषाणिक उपकरण खोजकर प्रागैतिहासिक अध्ययन का श्री गणेश किया। ब्रुस फुट का लगभग 40 वर्षों का संग्रह मद्रास संग्रहालय में संग्रहित है। तब से लेकर आज तक भारत के विभिन्न भागों से पुरापाषाणिक उपकरण खोज निकाले गये है। उपकरणों के आकार–प्रकार एवं बनाने की तकनीकी के विकास के आधार पर तथा पुरापाषाण काल का समय अधिक लम्बा होने के कारण, विद्वानों द्वारा इसका विभाजन तीन भागों में किया गया है–

(1) निम्न पुरापाषाण काल (2) मध्य पुरा पाषाण काल (3) उच्च पुरापाषाण काल

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- निम्न पुरापाषाण संस्कृति की विशेषता के विषय में।
- निम्न पुरापाषाण उपकरण प्रकार के विषय में ।
- बेलन नदी घाटी के सांस्कृतिक जमावों के विषय में।
- सोन नदी घाटी के निम्न पुरापाषाणिक संस्कृति की विशेषता के विषय में

4.3 निम्न पुरापाषाण काल

पुरापाषाण काल मानव तकनीक के विकास का आदि काल या शैशव काल है। इस काल में मानव आखेट और आत्मरक्षा हेतु पत्थर के औजार बनाता था। आग की खोज तो कर लिया था किन्तु कृषि, मृदभाण्ड और भण्डार संग्रह सम्बन्धी उसे ज्ञान नहीं था। भारत में सर्वप्रथम राबर्ट ब्रुस फुट ने 1863 ई0 में मद्रास के समीपस्थ पल्ल्वरम् नामक स्थान से पुरापाषाणिक उपकरण खोजकर प्रागैतिहासिक अध्ययन का श्री गणेश किया। ब्रुस फुट का लगभग 40 वर्षों का संग्रह मद्रास संग्रहालय में संग्रहित है (मैटिलेट. 1903 : 38)। तब से लेकर आज तक भारत के विभिन्न भागों से पुरापाषाणिक उपकरण खोज निकाले गये है। उपकरणों के आकार–प्रकार एवं बनाने की तकनीकी के विकास के आधार पर तथा पुरापाषाण काल का समय अधिक लम्बा होने के कारण, विद्वानों द्वारा इसका विभाजन तीन भागों में किया गया है (पन्त. 1982 : 242)।

(1) निम्न पुरापाषाण काल (2) मध्य पुरा पाषाण काल (3) उच्च पुरापाषाण काल

4.4 चॉपर–चापिंग/पेबल संस्कृति,हैण्डएक्स संस्कृति/अश्युलियन संस्कृति

भारत में निम्न पुरापाषाण काल का साक्ष्य सोहन नदी घाटी, बेलन घाटी, कोर्तल्यार नदी घाटी, उड़ीसा, गुजरात, राजस्थान में डिडवाना, प्रवरा नदी, कुकड़ी नदी, कर्नाटक के हुडसंगी, मद्रास के पल्लवरम, नर्मदा नदी, मध्य प्रदेश के भीमबैठका, सोन नदी तथा बिहार के मुंगेर जिले में स्थित पैसरा आदि जगहों से प्राप्त होते है। भारत में निम्न पुरापाषाण काल की संस्कृति उपकरण प्रकार तथा प्रसार क्षेत्र के आधार पर इसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) चॉपर–चापिंग/पेबल संस्कृति (चित्र संख्याः 1)

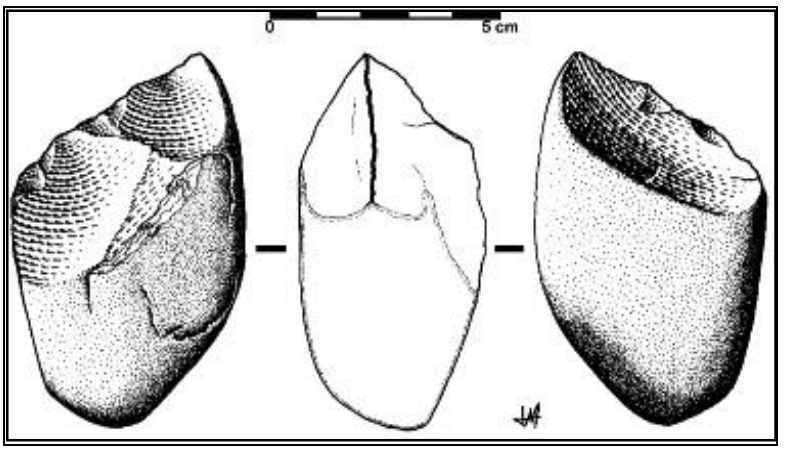

चित्र संख्या–1: पेबल उपकरण

(2) हैण्डएक्स संस्कृति/अश्युलियन संस्कृति (चित्र संख्याः 2)

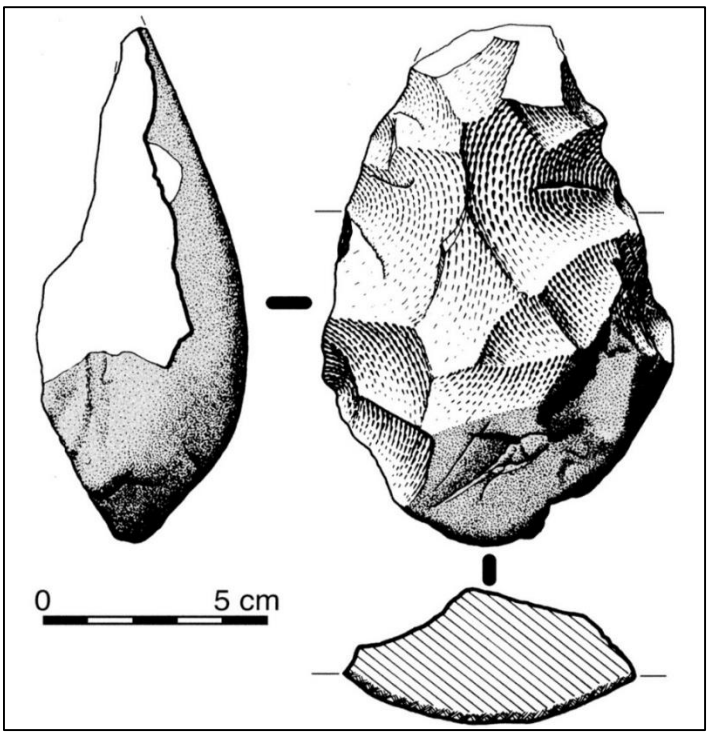

चित्र संख्या–2: हैण्डएक्स

चॉपर–चापिंग संस्कृति पाकिस्तान के पंजाब में प्रवाहित होने वाली सिन्धु की सहायक सोहन नदी की घाटी में किये गये प्रागैतिहासिक अन्वेषण के फलस्वरुप सर्वप्रथम प्रकाश में आयी। अतः इस संस्कृति को सोहन संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस संस्कृति के प्रमुख उपकरण पेबल पर बने होते थे (चित्र संख्याः 3) जिसे चॉपर–चॉपिंग उपकरण के नाम से जाना जाता हैं (चित्र संख्याः 4।

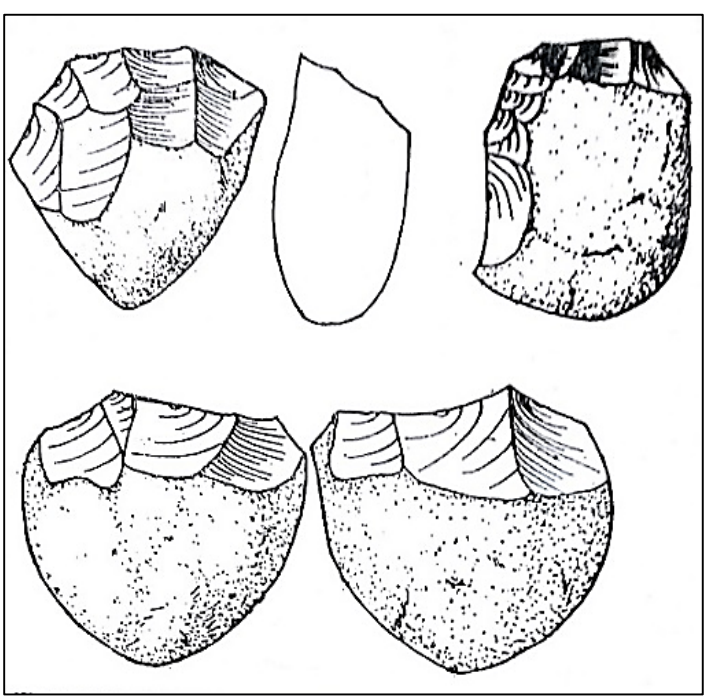

चित्र संख्या–3: पेबल उपकरण

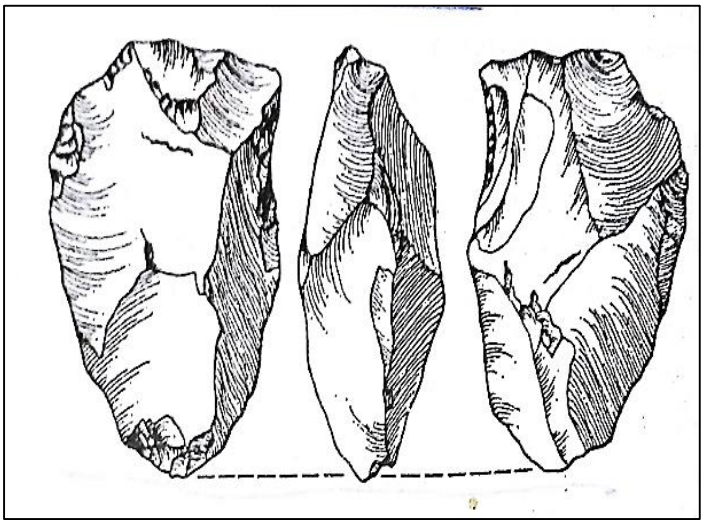

चित्र संख्या–4: चॉपर–चॉपिंग पाषाण उपकरण (चुकुटियॉ गुफा)

निम्नपुरापाषाण काल का दूसरा वर्ग अश्युलियन संस्कृति के नाम से भी प्रसिद्ध है। हैण्डएक्स (चित्र संख्याः 5), क्लीवर (चित्र संख्याः 6), स्क्रेपर (चित्र संख्याः 7), क्रोड तथा फलक (चित्र संख्याः 8)इस संस्कृति के प्रमुख उपकरण है। इस संस्कृति के उपकरण चेन्नई (मद्रास) के पास से सर्वप्रथम प्राप्त हुए थे, इसलिए इसे कभी–कभी मद्रासियन संस्कृति भी कहा जाता है, यद्यपि इस नाम का चलन अब समाप्त प्राय है (पाण्डेय. 2008 : 210)।

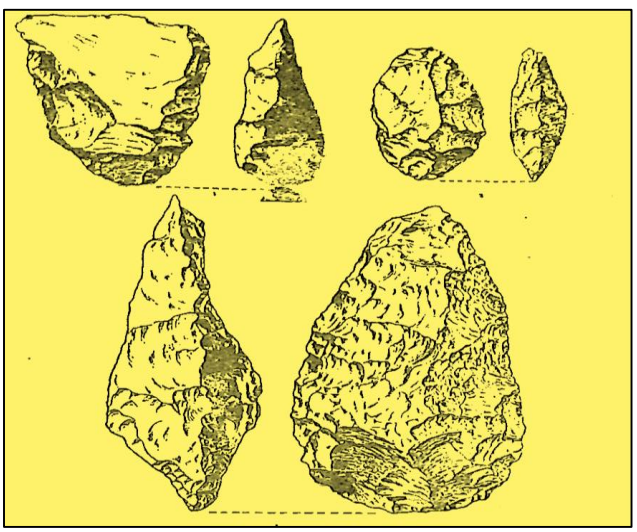

चित्र संख्या–5: हैण्डएक्स व क्लीवर

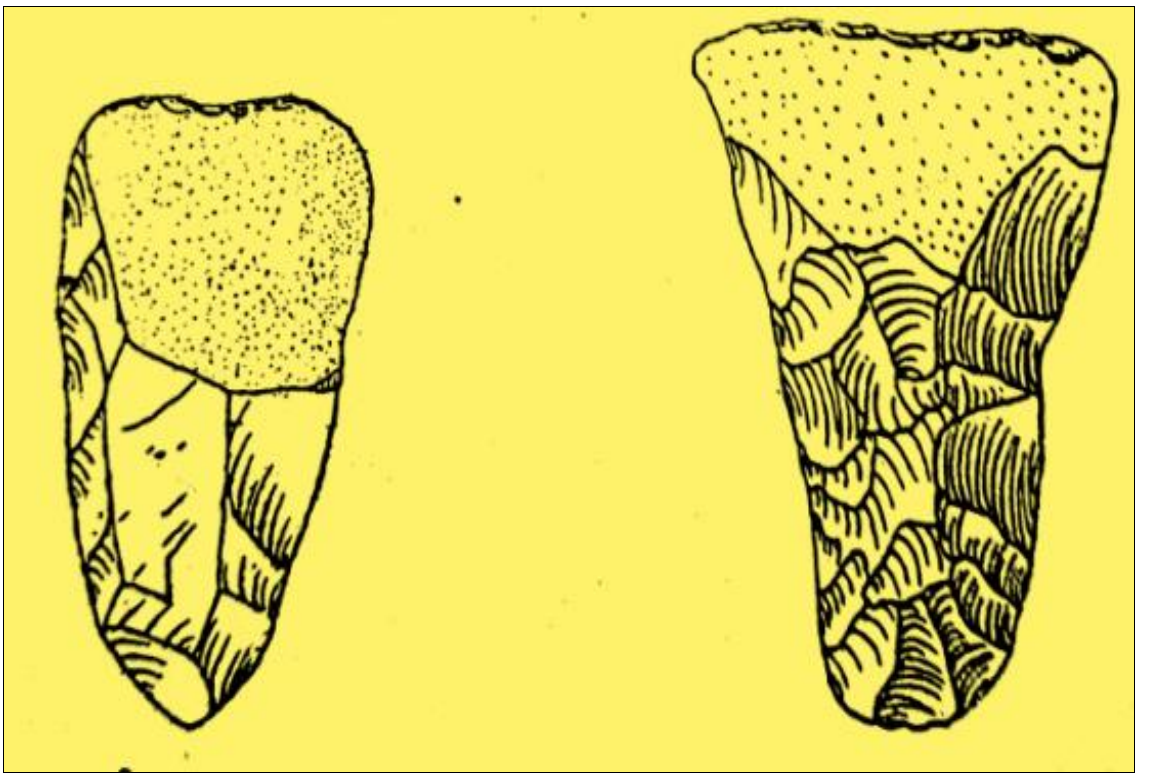

चित्र संख्या–6: क्लीवर

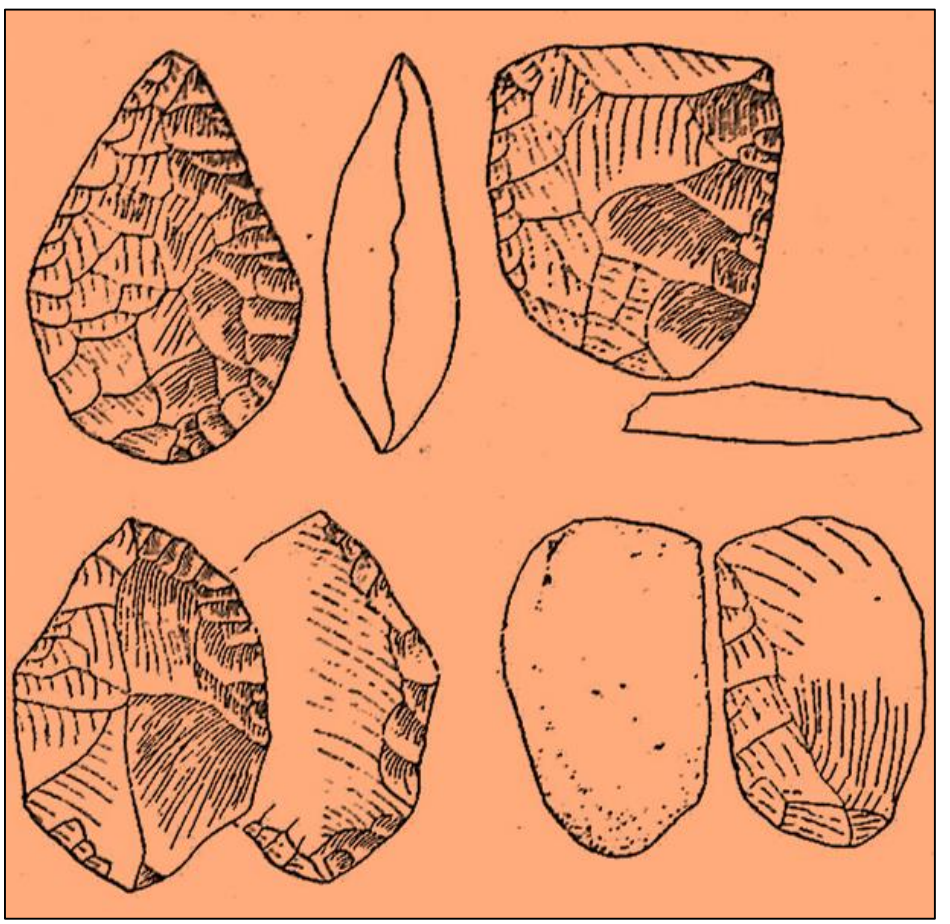

चित्र संख्या–7: स्क्रेपर व हैण्डएक्स

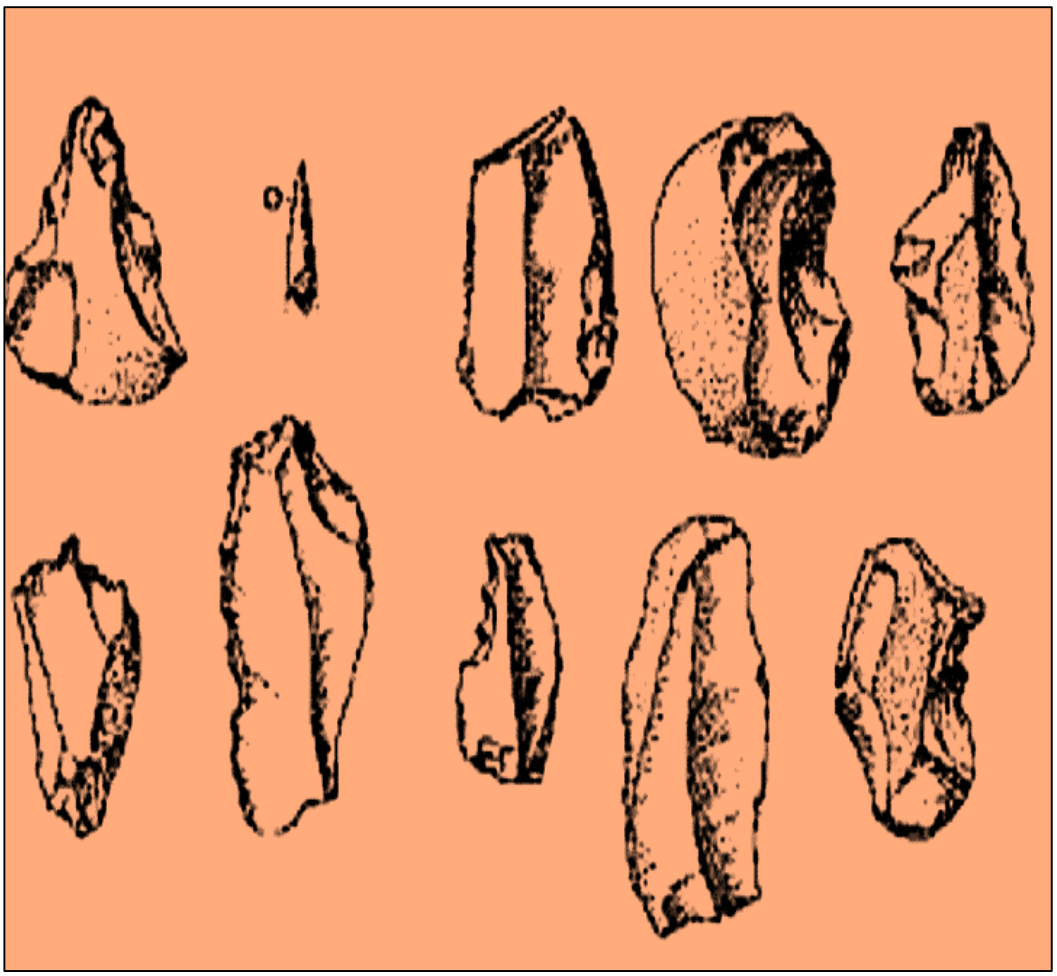

चित्र संख्या–8: फलक उपकण

इस संस्कृति के अधिकांश उपकरण कोर पर बने है इसलिए इस संस्कृति को 'कोर कल्चर' के नाम से भी जाना जाता है। इस काल में उपकरण निर्माण की तकनीक में ब्लाक ऑन ब्लाक तकनीक, एनवील तकनीक, एवेविलियन तकनीक, एश्युलियन तकनीक आदि का प्रयोग किया जाता था।

तिथि–

भारत में निम्न पुरापाषाण काल की तिथि का निर्धारण स्पष्ट रुप से नहीं किया गया है यह विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग प्रकार से मिलती है। इस काल की तिथि लगभग 2 लाख से 80 हजार बी0पी0 मानी जाती है। कहीं–कहीं पर यह 150000 बी0पी0 के लगभग मानी जाती है। पुराध्रुवीय चुम्बकत्व स्तरीकरण और विखण्डन पथ तिथि प्रणाली के आधार पर उच्च शिवालिक के अवसादन की तिथियाँ निर्धारित की गई है। हैण्डएक्स सहित अन्य उपकरणों के कई प्राप्ति स्थलों का कालानुक्रम 700000 से 400000 वर्ष के मध्य निर्धारित किया गया है (पाण्डेय. 2005 : 222)। पूर्व पाषाण काल की तिथि श्री राम गोयल द्वारा पॉच–छः लाख वर्ष पूर्व से लगभग 120000 वर्ष पूर्व तक बताई गयी है (गोयल. 2008 : 20)।

4.5 पैसरा –(86^0 26′ पूर्वि देशान्तर, 25^0 08′ उत्तरी अक्षांश)

पैसरा बिहार के मुंगेर जिले में स्थित एक छोटा सा गाँव है। इस स्थल की स्थिति 25^0 08′ उत्तरी अक्षांश तथा 86^0 26′ पूर्वि देशान्तर है। इस स्थल को प्रकाश में लाने एवं उत्खनित करने का कार्य प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पी0सी0 पन्त और विदुला जायसवाल को है। इनके द्वारा यहाँ पर 1984 तथा 1986 से लेकर 1988 तक उत्खनन कार्य करवाया गया। इस स्थल के उत्खनन के परिणाम स्वरुप अश्युलियन संस्कृति के मानव के आवासीय साक्ष्यों का प्रमाण मिला है। पैसरा पुरास्थल नीची पहाड़ियों के मध्य में स्थित है। इस नीची पहाड़ी में पैसरा के अलावा दो और गाँव बरियरा, पैसरा के पश्चिम की ओर तथा कान्दिनी पूर्व की ओर स्थित है। यद्यपि पूरी घाटी सतही कटाव के कारण अस्त–व्यस्त है फिर भी मानव के रहन–सहन के प्रमाण मिलते है (पन्त एवं जायसवाल. 1991:19)। यहाँ पर हवेली–खड़गपुर अथवा भीमबन्ध के जंगल मार्ग से पहुँचा जा सकता है। हवेली खड़गपुर से यह 30 कि.मी. पश्चिम में तथा भीमबन्ध से 18 कि.मी. उत्तर में है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में अधिकाशतः गरम पानी के झरने है जिससे पीने के पानी का अभाव है। पुरास्थल का विस्तार लगभग 2 वर्ग किलोमीटर में था। पैसरा में विभिन्न स्थलों पर सघन सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि यह क्षेत्र मात्र उद्योग स्थल ही नहीं था बल्कि विकसित अश्युलियन मानव का आवास–स्थल भी था। उपकरण पुरास्थल पर समूह में मिलते हैं (पन्त एवं अन्य. 1978 : 21–31)। सम्पूर्ण क्षेत्र के सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि यहाँ का मानव पहाड़ो की अपेक्षा घाटी में रहना ज्यादा पसन्द करता था क्योंकि पहाड़ियो एवं शैलाश्रयों में इनके उपकरण नगण्य हैं (वर्मा. 2001:44)।

इस जिले की प्राकृतिक बनावट को देखा जाय तो सम्पूर्ण मुँगेर जिला दो भागो में बँटा दिखाई देता है। जिले का उत्तरी भाग गंगा और उसकी सहायक नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से बना है तथा दक्षिणी भाग नीची पहाडियों से युक्त है। जिले के उत्तरी भाग गंगा एवं उसके सहायक नदियों द्वारा बने होने के कारण भी पैसरा को मध्य गंगा मैदान के साथ जोड़कर देखा जाता है जो कि मध्य गंगा मैदान के इतिहास को अश्युलियन काल तक ले जाने में सहयोग प्रदान करता है।

इस पुरास्थल का उत्खनन कार्य 1981 ई0 में अत्यन्त सीमित पैमाने पर किया गया था (चित्र संख्याः 9)। कालान्तर में 1984 ई0 में पैसरा पुरास्थल पर पाँच स्थानों A से E तक को चिन्हित कर उत्खनन कार्य किया गया तथा 1986 ई. में दो और स्थलोंF और G का भी उत्खन किया गया। उत्खनन के परिणाम स्वरूप अश्युलियन कालीन मानवीय आवास तथा मध्य पाषाण कालीन संस्कृति का प्रमाण प्राप्त हुआ है (पन्त एवं जायसवाल. 1991: 24–28)।

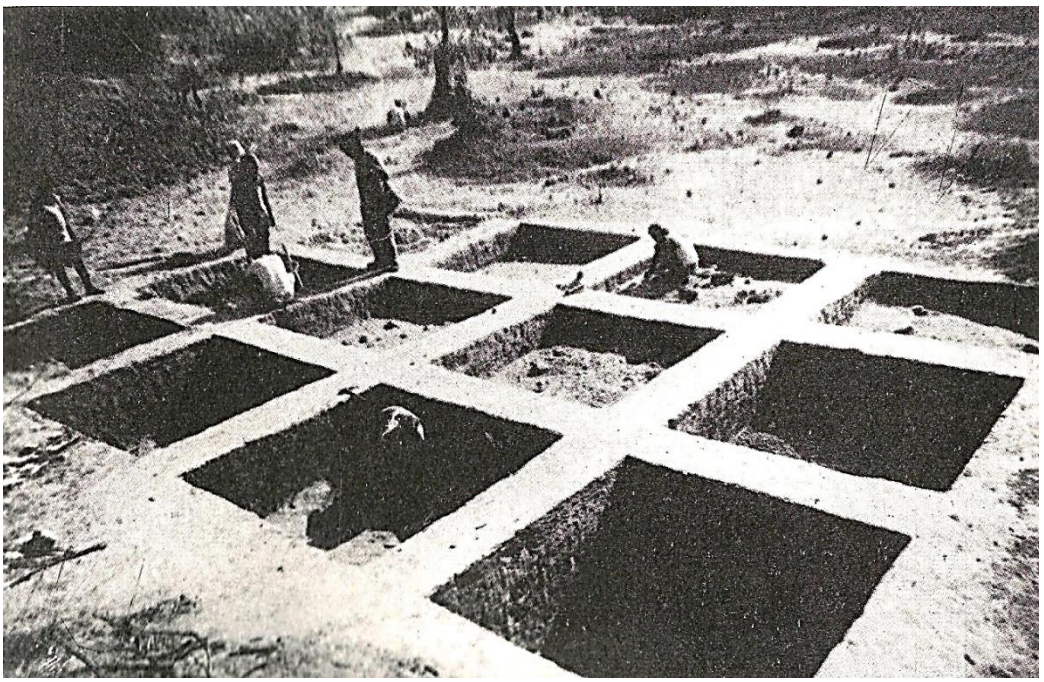

चित्र संख्या–9: उत्खनित ट्रेंच का दृश्य

पैसरा से प्राप्त उपकरणों में हैण्डएक्स (चित्र संख्या: 10) और क्लीवर की संख्या फलक पर बने उपकरणों से अपेक्षाकृत कम है। उभयपक्षीय क्लीवर के अतिरिक्त यहाँ पर ऐसे उपकरण बहुतायत में मिले है जो प्रायः मध्यपुरापाषाणिक संस्कृति में मिलते हैं। इन उपकरणों में स्क्रेपर के विभिन्न प्रकार, फलक उपकरण, ब्लेड एवं ब्लेड के विभिन्न प्रकार, लेवालवा प्वांइट, चाकू, मुस्तेरियन प्वाइट, चॉपर उपकरण, कोर, हैडेक्स आदि हैं। इसके अलावा हथौड़ा, निहाई, और पेबल आदि की भी प्राप्ति हुई है। हैडेक्स की प्राप्ति स्थल 'G' और स्थल 'E' से अपेक्षाकृत अधिक है (पन्त एवं जायसवाल. 1991: 46: 77)। स्थल 'D' और 'E' से आश्युलियन आवासीय साक्ष्य भी प्रमुखता से मिले है। स्थल 'F' का सम्बन्ध मध्य पाषाण कालीन संस्कृति से है। यहाँ से प्राप्त उपकरणों में विशेषकर लेवालवा फलक तथा कोर तथा हैण्डेक्सों में बरछाकार हैडेक्सों की अधिकता है। इस स्थल से प्राप्त क्लीवर अफ्रीकन अश्यूलियन क्लीवर के समान है तथा कुछ उभयपक्षीय हैण्डेक्सों के समान है, किन्तु उनका आकार क्लीवर सदृश है। उपकरणों के निर्माण में लेवालवा प्रविधि का विशेष प्रयोग मिलता है (वर्मा. 2001 : 45)

पैसरा पुरास्थल पर अश्यूलियन मानव के आवासीय साक्ष्य का भी प्रमाण मिला है। यहाँ पर सर्वप्रथम आने वाले मानव द्वारा आधारशिला पर बिखरे गेरू रंग की गोलियों के जमाव के ऊपर अपने आवास का निर्माण किया गया था क्योंकि वहाँ पर आधारशिला के ऊपर किसी प्रकार का मृदा अच्छादन नहीं था। आवास प्रायः ऊँचे स्थलों पर बनाये गये थे जबकि उपकरण निर्माण स्थल सभी जगहों पर मिलते हैं। उपलब्ध पत्थरों की दिशा तथा स्तम्भगर्तो के आधार पर आवासों की

रूपरेखा का अनुमान किया गया है। जहाँ पर मानव का आवास होता था वहाँ पर उपकरणों की संख्या कम होती थी। प्राप्त उपकरणो की विभिन्नता के आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि निश्चित कार्य के लिए निश्चित प्रकार के उपकरण का प्रयोग किया जाने लगा था।

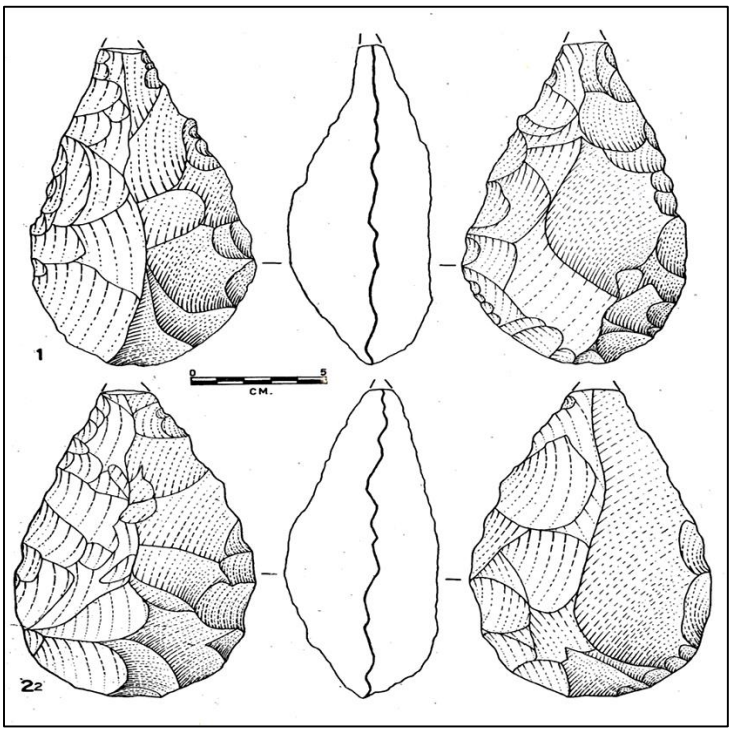

चित्र संख्या–10: हैण्डेक्स

जैसे बरछाकार उपकरण जिनमें प्रायः सभी की नोकें टुटी हुई हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि उनका एक ही प्रकार के कार्य के लिए प्रयोग किया गया होगा। हैण्डेक्सों के सम्बन्ध में देखा गया है कि ये प्रायः उन्हीं स्थलों पर मिले हैं जहाँ स्तम्भगर्त खोदे गये हैं। उनके टुटे नोक भी एक मीटर के अन्दर मिले हैं। सम्भवतः इनका प्रयोग खोदने के लिए करते थे। उत्खननकर्ताओं द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया है कि ये अपने आवास से कितने क्षेत्र तक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विचरण करते थे। उनके अनुसार प्रत्येक आवास का वितरण क्षेत्र लगभग 18 वर्ग किलोमीटर था (वर्मा. 2001 : 45)।

अश्युलियन वास स्थलों पर पत्थरों से बनी जो संरचनाये मिली हैं वे वक्र रेखा, आयताकार अथवा वर्गो के समान मिली हैं। प्रायः 30 से 60 सेमी. की दूरी पर प्रस्तर पिण्ड रखे जाते थे। E क्षेत्र में प्रस्तर बिना अन्तराल के रखे मिले हैं। खन्ती नं0 2 में इस प्रकार की चार मीटर लम्बी तथा 1 मीटर चौड़ी संरचना मिली थी।

इसी प्रकार से 20 से.मी. मोटी तथा 90 से.मी. लम्बी बलुई मिट्टी से बनी संरचनाये भी मिली हैं। इस प्रकार की संरचनायें पदैया को हुण्डसंगी में भी मिली

थी (पद्दैया, के. 1982)। ये संरचनायें किसी प्रकार के तम्बू अथवा हवा रोकने के लिए या पशुओं से रक्षा के लिए निर्मित की जाती थी। कुछ स्थलों पर जैसे E और G में इन संरचनाओं के साथ स्तम्भगर्त भी मिले हैं जो आयताकार और अर्द्धवृत्ताकार स्वरूप बनाते हैं। इस प्रकार के आवास आद्यैतिहासिक तथा आधुनिक काल में आदिवासी जनजातियों द्वारा भी बनाये जाते हैं।

कुछ स्थलों पर 15 से.मी. से 30 से.मी. गहरे स्तम्भगर्त मिलते हैं जहाँ पर उपकरण समूह भी मिले है। D क्षेत्र में एक ही स्थान पर सात गर्त मिले हैं। अन्यत्र दो ऐसे गर्त भी मिले जिनसे आवास की संरचना की जा सकती है। स्तम्भगर्त के आधार पर तीन प्रकार की संरचनायें होने का अनुमान किया जा सकता हैः एक स्तम्भर्गत वाले, दो स्तम्भगर्त वाले तथा पत्थर की संरचना के साथ एक, दो या अधिक गर्त वाले। इनके द्वारा विभिन्न प्रकार की झोपड़ियों का निर्माण किया जा सकता था (वर्मा. 2001 : 45–46)।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि यहाँ की अश्युलियन संस्कृति के निवासियों द्वारा आवासीय संरचना का निर्माण किया जाने लगा था। यहाँ के लोगों की अर्थव्यवस्था के बारे में अनुमान लगाना बहुत कठिन है क्योंकि पैसरा में निवास स्थल से न तो हड्डी के और न तो किसी वनस्पति के अवशेष मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों के जीवन की आवश्यकतायें जंगली उत्पाद से पुरी होती होंगी लेकिन प्रायः धारणा रही है कि आश्युलियन संस्कृति के लोगों का जीवन आखेट तथा संग्रह पर आधारित था परन्तु पैसरा पुरास्थल के आवास क्षेत्र से आखेट का कोई प्रमाण नहीं मिला है।

इस स्थल पर मिली वस्तुओं की कुछ खास विशेषताओं को संक्षेप में निम्नलिखित रुप से प्रस्तुत किया जा सकता है (भट्टाचार्य. 2007ः पृ0 107)–

(1) इस स्थल पर सुनिश्चित रुप से अश्युलियन आबादी के साक्ष्य मिलते हैं और इसका क्षेत्र सैकड़ों वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है।

(2) उपकरणों के साथ–साथ बहुत बड़ी तादाद में पूरी तरह बने हुए और अधूरे बने हुए उपकरण भी यहाँ पाये गये है जिनमें शल्क, क्रोड और अन्य अनेक तरह की वस्तुएँ आदि शामिल हैं। यहाँ तक कि हथौड़ा, पाषाण, निहाइयों और कच्चे माल के थक्के भी पाये गये है।

(3) खुदाइयों में ऐसे पत्थर भी मिले हैं जिनमें पहले निकाले गये फलक चिन्ह मौजूद हैं तथा जिन्हें एक से अधिक कामों में इस्तेमाल किया गया जान पड़ता हैं। इसका अर्थ यह निकाला गया है कि उन्हें एक से अधिक प्रारुपों में इस्तेमाल किया जाता था।

(4) पैसरा में मध्य पाषाण कालीन मानव के भी पुरावशेष पाये गये हैं जिनका काल 6 हजार वर्ष पहले माना जाता है। यह पूर्वी भारत में मध्य पाषाण काल की रेडियो

कार्बन विधि से जानी गई एक मात्र तिथि है। सात अवशेष स्थलों से खुदाई में पाये गये उपकरणों में सीमित संख्या में उच्च अश्युलियन हस्त कुठार और विदारणियाँ हैं। उनमें प्रधान रुप से लेवल्वाइज शल्क और शल्क उपकरण हैं। शल्क उपकरणों की संख्या और विविधता यहाँ की खास बात है।

4.6 बेलन नदी घाटी

बेलन नदी घाटी मिर्जापुर से लेकर इलाहाबाद तक विस्तृत हैं। जहाँ से निम्न पुरापाषाण काल से लेकर ताम्रपाषाण काल तक का एक सम्पूर्ण क्रम मिलता हैं। बेलन टोन्स की एक सहायक नदी हैएवं टोन्स, गंगा की सहायक नदी है। बेलन नदी मुख्यतया इलाहाबाद के मेजा व कोरांव तहसील क्षेत्र में बहती हैं। बेलन की एक आद्य सहायक नदी सेवती है। बेलन का प्राचीन जमाव लगभग 18 मीटर मोटा हैं, जिसे स्तर विन्यास के आधार पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जी0 आर0 शर्मा ने 12 इकाई में बाँटा। ये सारे जमाव एक ही स्थल से भी मिले है और अन्य स्थलों पर अलग–अलग जगहों पर दो या तीन स्तरों के रूप में उपलब्ध होते है।

बेलन के जमाव में सबसे निचले जमाव में अपक्षरित विन्ध्य का बलुआ पत्थर है। इस जमाव के ऊपर लैटराइट का जमाव हैं। तथा इस लैटराइट जमाव के ऊपर 4.5 मीटर का बोल्डर काग्लोमेंरेट का जमाव हैं जिसे सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम के नाम से जाना जाता हैं। इस जमाव में छोटे–छोटे पेबल, लैटराइट के टुकड़े आदि सम्मिलित हैं। ये बोल्डर बेड रोल्ड नहीं हैं। इससे ऐसा लगता हैं कि ये कहीं दूर से आकर एकत्रित नही हुआ एवं यह ग्रैवल प्रथम का जमाव स्थानीय हैं (In situ)। इस ग्रैवल जमाव के ऊपर 3.5 मीटर का सिल्ट का मोटा जमाव हैं। इस जमाव के ऊपर एक ग्रैवल का जमाव मिला, जिसकी मोटाई लगभग 5 मीटर हैं, जिसे द्वितीय ग्रेवल कहा जाता हैं। इस जमाव से जो पेबल उपकरण मिले है, वे सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम की तुलना में छोटे–छोटे हैं। इस सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है, जो सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (अ), सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (ब) तथा सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (स) में बाँटा गया हैं। सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (अ) में ग्रेवल अच्छी किस्म के नहीं है। जो सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (ब) में ये ग्रेवल अच्छे और खराब दोनों किस्म के मिलते हैं। सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय के ऊपर एक लाल बालू का जमाव मिला है। जिसे चार उपभागो में विभाजित किया गया है।

- Reddish sand
- Sandy cemented seets & Gravel
- Reddish Sand/Silt
- Pebble bed

इस Reddish sand जमाव के ऊपर Yellow silt का जमाव है, जिसके ऊपर पुनः एक तीसरे ग्रेवल का जमाव हैं। जिसे सिमेन्टेड ग्रेवल तृतीय कहते हैं।

इस ग्रेवल तृतीय जमाव के ऊपर काले रंग की मृदा का 2–3 मीटर का जमाव मिलता है। इस जमाव के बाद 4 मीटर के लोयस का जमाव हैं, जिसके दो स्तर मिलते है। बेलन का उपरोक्त जमाव प्रातिनूतन काल से लेकर नूतन काल तक के विभिन्न जलवायु के क्रम को प्रदर्शित करता हैं। Bed rock के ऊपर लैटेराइट का जमाव ऊष्ण कटिबन्धीय जलवायु एवं अत्यन्त नम जलवायु का सूचक हैं, जबकि इसके ऊपर ग्रवेल प्रथम का आद्र जलवायु तथा सिल्ट (Silt) का जमाव शुष्क जलवायु का परिचायक हैं। किन्तु ग्रेवल द्वितीय के जमाव से सिल्ट (Silt) के छोटे–छोटे कण मिले हैं। इससे ऐसा लगता है, कि आद्र दशाओं के मध्य थोड़े समय के लिए शुष्क दशाओ का व्यवधान था। ग्रवेल द्वितीय के बाद रैडिस सैन्ड (Reddish sand) या सिल्ट (Silt) का जमाव शुष्क जलवायु की ओर संकेत करता है। सिल्ट (Silt) का जमाव पानी के स्थिर होने का सूचक हैं। अर्थात इस समय पानी तेजी से प्रवाहित नहीं हो रहा था। किन्तु यदा–कदा इसके मध्य बालू युक्त ग्रवेल का जमाव हैं एवं पेबल बेड आद्र जलवायु की दशाओं का संकेत करता हैं।

उपकरण प्रकार :– ग्रेवल प्रथम के जमाव से पेबल, हैन्डेक्स, क्लीवर (Cleaver), (Flake) शल्क (Flake) मिले हैं, जिस पर पुनर्गढ़न का प्रमाण मिलता है। ये सभी उपकरण निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इसके बाद के स्तर (Mottled clay) का जमाव हैं, जिसमें कोई उपकरण नहीं मिला है।

4.7 सोन नदी घाटी

भारतीय प्रागैतिहास के अध्ययन मेंमध्य सोन घाटी का महत्वपूर्ण स्थान हैं, क्योंकि इस नदी घाटी के स्तरित जमाव से पुरापाषाण कालीन संस्कृति से लेकर मध्य पाषाण कालीन संस्कृति का स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त होता हैं। सोन नदी मध्य प्रदेश के सहडौल जिले में अमरकंटक की पहाड़ियों से निकलती है। इसका उद्‌गम सोनभद्र अथवा सोनभुदा के नाम से जाना जाता हैं। यह उद्‌गम स्थान से निकलकर 792 किलोमीटर का मार्ग तय करती हुई पटना के पास गंगा नदी में मिल जाती हैं। इस नदी घाटी में सर्वप्रथम येल–कैम्ब्रिज अभियान दल के निर्देशक डी0 टेरा तथा उनके बाद ज्वायनर ने कार्य किया तथा इसके महत्व के सन्दर्भ में संकेत दिया। बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राधाकान्त वर्मा ने 1958 ई0 से 1962 ई0 तक के समय में आधुनिक सोनभद्र जिले तथा निसार अहमद ने 1962–63 ई0 में सोन की ऊपरी घाटी का सर्वेक्षण किया। 1968 ई0 में R.K. Varma तथा बी0 बी0 मिश्र ने सिहावल के निकटसीधी जिले में जोगदहा पुल के पास पुनः सर्वेक्षण किया। सन् 1974 ई0 के बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो0 जी0 आर0 शर्मा के निर्देशन में इस घाटी का संघन सर्वेक्षण कार्य हुआ। उसके बाद निरंतर समयान्तराल पर विभिन्न पुरातत्वविदों के द्वारा कार्य करवाया गया। इसी क्रम में 1980 से 1982 के बीच कैलिफोर्निया स्थित बर्कले विश्वविद्यालय के J.D.Clark एवं उनके सहयोगी पुरातत्व वेत्ताओं, नृतत्व शास्त्रियों एवं भूतत्व वेत्ताओं

ने कार्य किया। कालान्तर में R.K.Varma ने रीवा विश्वविद्यालय के तत्वाधान में 1985 से 1997 ई0 के बीच सर्वेक्षण कार्य किया, जिसके फलस्वरूप वनस्पतियों के जीवाश्म प्रकाश में आए तथा पटपरा में उत्खनन कार्य भी करवाया। इसके अलावा सिहावल, नकझरखुर्द तथा बधोर का उत्खनन कार्य भी करवाया गया। इन सभी कार्यो के फलस्वरूप बहुत से पुरास्थल, प्रागैतिहासिक उपकरण तथा जीवाश्म प्राप्त हुए हैं, जो तत्कालीन मानव संस्कृति पर विशेष प्रकाश डालते हैं। इस क्षेत्र के प्रातिनूतन कालीन भूतात्विक जमाव का नीचे से ऊपर की ओर निम्न अनुक्रम प्राप्त होता हैं।

सोन घाटी का सांस्कृतिक अनुक्रमः

1. सिहावल जमाव
2. पटपरा जमाव
3. बघोर जमाव
4. खेतौही जमाव

नोट–बाद में सिहावल जमाव और पटपरा जमावों के बीच खुटेली जमाव की पहचान की गयी।

सिहावल जमाव :–यह जमाव सोन घाटी का सबसे निम्नवर्ती प्रातिनूतन कालीन जमाव है। इसका नामंकरण पुरास्थल के नाम के आधार पर किया गया है। इस ग्रेवल का जमाव आधारशिला के ऊपर 1.5 मीटर का प्राप्त हुआ है। इस जमाव में बालूकाश्म, सेल तथा क्वार्टजाइट के कोणदार गोलाकार पत्थर हैं। ये अर्द्धशुष्क जलवायु का निर्देश करते है। इसमें कही–कही पर मिट्टी का भी जमाव मिलता हैं। इस जमाव का सम्बन्ध निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति से है। यहाँ से प्राप्त उपकरणो में नुकीले हैन्डेक्स, क्लीवर, तथा स्क्रैपर(Scrapper) आदि हैं। पेबल पर बने अबेविलियन प्रकार के उपकरण नगण्य है। अधिकांश उपकरण पूर्णतया फलकीकृत तथा सुड़ौल है। उपकरणों का निर्माण अच्छे प्रकार के क्वार्टजाइट, चर्ट, इत्यादि पर किया गया है। इस स्तर से एक ऊष्मादीप्ति तिथि प्राप्त हुई है। जो एक लाख तीन हजार आठ सौ से उन्नीस हजार आठ सौ ई0 पू0 (103800–19800) है। कालक्रम के आधार पर इसे मध्य से उच्च प्रातीनूतन काल के अन्तर्गत रखते हैं।

पटपरा जमाव :–यह जमाव सिहावल जमाव के ऊपर है। इस जमाव का नाम सीधी जिले में स्थित पटपरा नामक पुरास्थल के आधार पर किया गया है। इस जमाव की मोटाई जगह–जगह पर 10 मीटर की प्राप्त हुई है। यह जमाव लाल रंग का है। इसमें बालू के कण तथा बलुआ पत्थर, सेल (Shell) और क्वार्टजाइट के टुकड़े मिलते है। इस जमाव के अन्दर अगेट, चाल्सेडनी आदि पत्थरो के टुकड़े, घिसी–पिटी अवस्था में मिलते है। यह जमाव उस समय हुआ जब नदी का बहाव तीव्र गति पर था। पटपरा जमाव से मध्य पुरापाषाण काल के उपकरण नव–निर्मित अवस्था में मिलते है। इस जमाव में हैन्डेक्स, क्लीवर आदि उभयपक्षी उपकरण भी मिलते है, जिससे यह इंगित होता है कि एश्यूलियन परम्परा उच्च प्रातीनूतन काल

के प्रारम्भिक चरण तक चलती रही। इस जमाव में टुफा जमाव भी मिलता है, जो ऊपर अत्यन्त सिकुड़ा हुआ है। इस जमाव में प्रायः वानस्पतिक साक्ष्य विशेषतः पत्ती के जीवाश्म काफी मात्रा में मिलते हैं। इस जमाव की तिथि 100000 से 30,000 ई0 पू0 निर्धारित की गई है।

बघोर जमाव :–तीसरा जमाव बघोर जमाव है जो बघोर ग्राम के दक्षिण में स्थित अनुभाग पर आधारित है। यह विशाल निक्षेप कही–कही पर 20 मीटर तक मोटा तथा पटपरा जमाव पर आच्छादित है। बघोर जमाव को उसकी संरचना के आधार पर दो भागो में विभाजित किया गया है–

- निम्नवर्ती रूक्ष वर्ग
- ऊपरवर्ती महीन वर्ग

निम्नवर्ती रुक्ष वर्ग :– निम्नवर्ती जमाव मोटे कण के बालू से निर्मित हैं जो 5 सेमी0 से 85 सेमी0 तक मोटा है। कहीं–कहीं पर कैल्सियम कार्बोनेट (CaCo3) की सिमेन्टेड परते भी इसमें मिलती हैं, जिनके बीच–बीच में अपेक्षाकृत बालू तथा महीन ग्रेवल का रुप मिलता है। कहीं–कहीं पर इसमे लहरो के चिन्ह भी मिलते है। इस जमाव में बहुत भारी संख्या में पशुओ के जीवाश्म मिले है, जिनमे गैंडा, भैंसा, दरियाई घोड़ा, हाथी, हिरन, घड़ियाल, कछुआ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च पुरापाषाण काल के उपकरण बघोर जमाव के निम्नवर्ती रूक्ष वर्ग से मिलते है। प्रमुख उपकरणों में स्क्रेपर (Scrapper),ब्लेड (blade) छिद्रक, ल्यूनेट, तथा ब्यूरिन इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। इन उपकरणो का निर्माण चर्ट तथा फ्लिन्ट (Flint) पर किया गया है। इस जमाव की तिथि 30,000 से 10,000 वर्ष पूर्व निर्धारित की गई हैं। यह प्रातिनूतन काल के अन्त का निर्देश करता है।

2. ऊपरवर्ती महीन वर्ग :– यह निम्नवर्ती रूक्ष वर्ग पर आधारित है। तथा इसकी अधिकतम मोटाई 10 मीटर है। इस महीन जलोढ़ जमाव से मिट्टी की क्षैतिज परते प्राप्त हुई है। इसमें कंकड़ के टुकड़े तथा बालू की परते भी प्रायः मिलती है।

खेंतौही जमाव :–यह जमाव सोन नदी की वेदिका के रूप में मिलता है। इस क्षेत्र का सबसे उपरवर्ती जमाव है, इसका सबसे सुरक्षित स्वरूप सोन तथा रेही के संगम के उस पार खेतौंही नामक पुरास्थल पर प्राप्त होता है। इसका अधिकतम निक्षेप लगभग 10 मीटर हैं। इसका निर्माण नूतन काल में हुआ था। जहाँ पर मध्यपाषाण युगीन लघु पाषाण उपकरण प्राप्त होते है, जिसकी तिथि लगभग 10,000 वर्ष पूर्व निर्धारित की गई है।

4.8 सारांश

उक्त पुरास्थलों के विवरण और प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है की निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति का मानव पेबल उपकरणों के साथ–साथ हैण्डेक्स और क्लीवर उपकरणों का प्रयोग कर रहा था और इन उपकरणों के माध्यम से शिकार कर अपना जीवन–यापन कर रहा होता है। भारत की निम्न

पुरापाषाणकालीन संस्कृति की दो परम्पराएं देखी जा सकती है। एक परंपरा सोहन नदी घाटी में दिखाई देती है जो पेबल उपकरणों के माध्यम से परिलक्षित होती है और दूसरी परंपरा दक्षिण भारत के संदर्भ में देखी जा सकती है जो हैंडेक्स और क्लीवर जैसे उपकरणों से पहचानी जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि भारत की निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति का मानव पाषाण उपकरणों के माध्यम से शिकार कर अपना–जीवन यापन करता था। इस दौरान निम्न प्रातिनूतन कालीन जलवायु का परिवेश विद्यमान था।

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
5. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
6. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.

4.10 बोध प्रश्न

1. निम्न पुरापाषाणिक संस्कृति की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. सोन नदी घाटी के निम्न पुरापाषाणिक जमाव की विवेचना कीजिए।
3. बेलन नदी घाटी कि निम्न पुरापाषाणिक संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

इकाई–5 मध्य पुरापाषाण काल–नेवासा, बेलन घाटी

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 मध्य पुरापाषाण काल

5.4 नदी की घाटियों से प्राप्त प्रमाण

5.5 उपकरण

5.6 नेवासा

5.7 बेलन घाटी

5.8 उपकरण प्रकार

5.9 सारांश

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.11 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

मध्य पुरापाषाण काल, प्रागैतिहासिक काल का मध्यवर्ती भाग है।20वीं शताब्दी के पाँचवें दशक तक भारत में मध्य पुरापाषाण काल के बारे में जानकारी संदिग्ध थी लेकिन गोदावरी नदी की सहायक प्रवरा नामक सरिता के बॉये तट पर स्थित नेवासा पुरास्थल की सन् 1954 में दकन पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे के पुराविदों द्वारा खोज से फलक पर बने उपकरणों की प्राप्ति हुई, जो निम्न पुरापाषाण काल के उपकरणों से भिन्नता लिए हुए था। नेवासा में संकालिया को प्रवरा के स्तर निक्षेपों से क्रमशः तीन प्रस्तर उद्योग मिले। इन उद्योगों को उन्होंने तीन श्रेणियों क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी में हैडेक्स क्लीवर परिवार के उपरकण थे। ये उपकरण प्रवरा नदी के प्रथम उच्चयन काल अथवा प्रथम ग्रेवेल से सम्बन्धित थे। नदी के दूसरे ग्रेवेल से वहाँ पर प्रथम ग्रेवेल से भिन्न प्रकार के उपरकण प्राप्त हुए थे, जिन्हें संकालिया ने द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत रखा, जो द्वितीय उच्चयन काल से सम्बन्धित थे। सबसे ऊपर की सतह से लघु पाषाण उपकरण प्राप्त हुए थे। जिन्हें श्रेणी तृतीय कहाँ गया। बनर्जी ने संकालिया के द्वितीय श्रेणी के उपकरणों को ही 'नेवासियन' की संज्ञा उनकी विशिष्टता के कारण प्रदान की तथा उन्हें मध्य पुरापाषाण काल के अन्तर्गत रखा।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- मध्य पुरापाषाण काल के विषय में।

- मध्य पुरापाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषतओ के विषय में।
- प्रमुख उपकरण प्रकार के विषय में।
- उपकरणीय विकास एवं तकनीक के विषय में।

5.3 मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति

मध्य पुरापाषाण काल, पाषाण काल का द्वितीय चरण है, इस चरण का भारत में सर्वप्रथम साक्ष्य नेवासा नामक स्थल से प्राप्त उपकरणों तथा स्तर विन्यास के आधार पर हुआ। 20वीं शताब्दी के पाँचवें दशक तक भारत में मध्य पुरापाषाण काल के बारे में जानकारी संदिग्ध थी लेकिन गोदावरी नदी की सहायक प्रवरा नामक सरिता के बॉये तट पर स्थित नेवासा पुरास्थल की सन् 1954 में दकन पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे के पुराविदों द्वारा खोज से फलक पर बने उपकरणों की प्राप्ति हुई जो निम्न पुरापाषाण काल के उपकरणों से भिन्नता लिए हुए थे। नेवासा में संकालिया को प्रवरा के स्तर निक्षेपों से क्रमशः तीन प्रस्तर उद्योग मिले। इन उद्योगों को उन्होंने तीन श्रेणियों क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी में हैडेक्स क्लीवर परिवार के उपरकण थे। ये उपकरण प्रवरा नदी के प्रथम उच्चयन काल अथवा प्रथम ग्रेवेल से सम्बन्धित थे। नदी के दूसरे ग्रेवेल से वहाँ पर प्रथम ग्रेवेल से भिन्न प्रकार के उपरकण प्राप्त हुए थे, जिन्हें संकालिया ने द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत रखा, जो द्वितीय उच्चयन काल से सम्बन्धित थे। सबसे ऊपर की सतह से लघु पाषाण उपकरण प्राप्त हुए थे। जिन्हें श्रेणी तृतीय कहाँ गया। बनर्जी ने संकालिया के द्वितीय श्रेणी के उपकरणों को ही नेवासियन की संज्ञा उनकी विशिष्टता के कारण प्रदान की तथा उन्हें मध्य पुरापाषाण काल के अन्तर्गत रखा। इस काल से प्राप्त उपकरणों की प्रारुपकात्मक विशेषताओं को ध्यान में रखकर मलिक (1968) ने इन्हें फ्लेक–ब्लेड स्क्रैपर उद्योग की संज्ञा प्रदान की (चित्र संख्याः 11, 12,) (वर्मा. 2001: 62)।

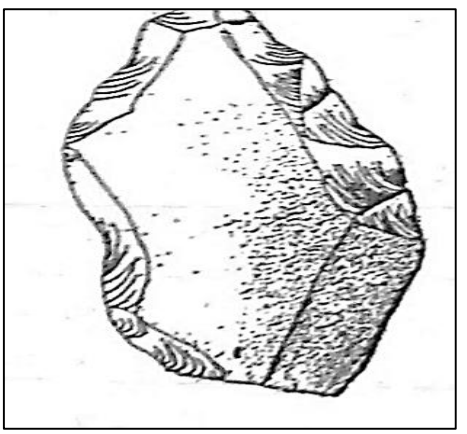

चित्र संख्या–11: फलक स्क्रैपर

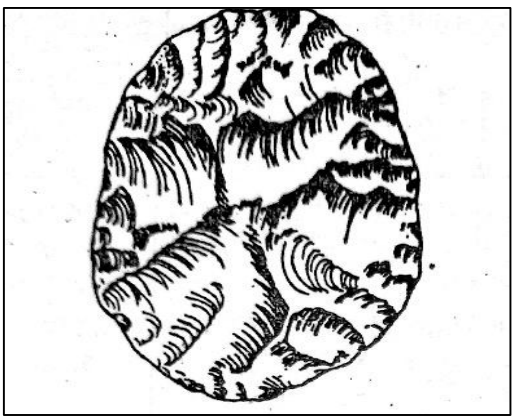

चित्रसंख्या–12: गोलाकार स्क्रैपर

नेवासा से प्राप्त प्रमाणों की घोषणा के पश्चात् विभिन्न नदियों की घाटियों से क्रमशः इस वर्ग के प्रमाण प्रकाश में आने लगे। लगभग दक्षिण भारत की सभी नदियों के तट, जहाँ से पूर्व पुरापाषाण काल के उपकरण प्राप्त किये गये थे, उनसे आज भी मध्य पुरा पाषाण काल के अवशेष प्राप्त होते हैं।

अब तक उपलब्ध मध्य पुरापाषाण कालीन अवशेष भारत में निम्नलिखित प्रकार के स्थलों से प्राप्त किये गये हैं (जायसवाल. 1987: 65–68):

1. गढ़न स्थल
2. शैल गृह
3. नदी की घाटियों में स्थित स्थल

गढ़न स्थल–केवल बेलन घाटी के समीपवर्ती पर्वत ढ़लानों से ही इस वर्ग के केन्द्रों के अच्छे उदाहरण प्रकाश में आये हैं। महत्वपूर्ण गढ़न स्थल बैठका से चिप्पड़ पर तराशे उपकरणों के साथ ही पाषाण हथौड़े, क्रोड़ व कई अन्य गढ़न प्रक्रिया में उपलब्ध चिप्पड़ प्राप्त हुए हैं।

शैलगृह– शैल गृहों में आदमगढ़ और भीम बैठका प्रमुख स्थल है जहाँ से मध्य पुराप्रस्तर काल के अवशेष मिले हैं।

5.4 नदी की घाटियों से प्राप्त प्रमाण

सोहन नदी घाटी, बेलन नदी घाटी (उत्तर प्रदेश), मध्य प्रदेश में सोन, नर्मदा, वेतवा, महाराष्ट्र में भीमा घोड़, गोदावरी व प्रवरा, आन्ध्रप्रदेश में कृष्णा, तुगभद्रा, उड़ीसा में महानदी आदि इस संस्कृति के विशेष रुप से उल्लेखनीय क्षेत्र हैं (मानचित्र–1)।

गंगा घाटी में इस संस्कृति के स्थल का अभाव है, क्योंकि गंगा घाटी का जो क्षेत्र है, वह मैदानी है और इसमें पाषाण खण्डों का अभाव है। यदि हम मध्य पुरापाषाण काल की जलवायु पर ध्यान देते हैं तो इस समय लम्बा जलवायु चक्र था। मौसम बहुत ठण्डा होता था।पुरातत्वविद विदुला जायसवाल द्वारा बताया गया है कि उत्तर व उत्तर पश्चिम पर्वतीय तराई वाले क्षेत्रों में जिन उपकरणों को मध्य पुराप्रस्तर काल का माना गया है वे नदियों के तृतीय सोपान से सम्बन्धित हैं। सोपान संरचना इतिहास के आधार पर इनकों हिमालय के तृतीय हिम युग तदनुसार उच्च प्रातिनूतन काल में रखा जाता है। मध्य पुरापाषाण काल के जमाव से पशुओं के प्रस्तरीकृत हड्डियों तथा सीपी व घोंघों के समूह भी उपलब्ध हुए है (जायसवाल. 1987: 65), जो लम्बे हिमयुग की तरफ संकेत करते हैं। विन्ध्य क्षेत्र तथा दक्षिण में अतिवृष्टि काल का समय था। इस स्थिति में मानव द्वारा पर्वतीय क्षेत्रों में आवास

बनाया गया जहाँ रहने के लिए गुफा, शिकार करने के लिए पाषाण उपकरण तथा जंगली पशु भी आसानी से उपलब्ध हो जाते थे।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि मध्य गंगा मैदान में मध्य पुराप्रस्तर कालीन स्थल अभी तक नहीं खोजे जा सके हैं लेकिन मध्य गंगा मैदान के समीपवर्ती विन्ध्य क्षेत्र में देखे तो मध्य पुराप्रस्तर कालीन संस्कृति के साक्ष्य बेलन घाटी के द्वितीय ग्रैवेल के जमाव से मिले हैं। इसमें स्क्रेपर 85 प्रतिशत तथा ब्लेड 15 प्रतिशत है। बेलन घाटी में अनुसंधान कार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के जी0आर0 शर्मा द्वारा करवाया गया था (वर्मा. 2003: 66–68)।

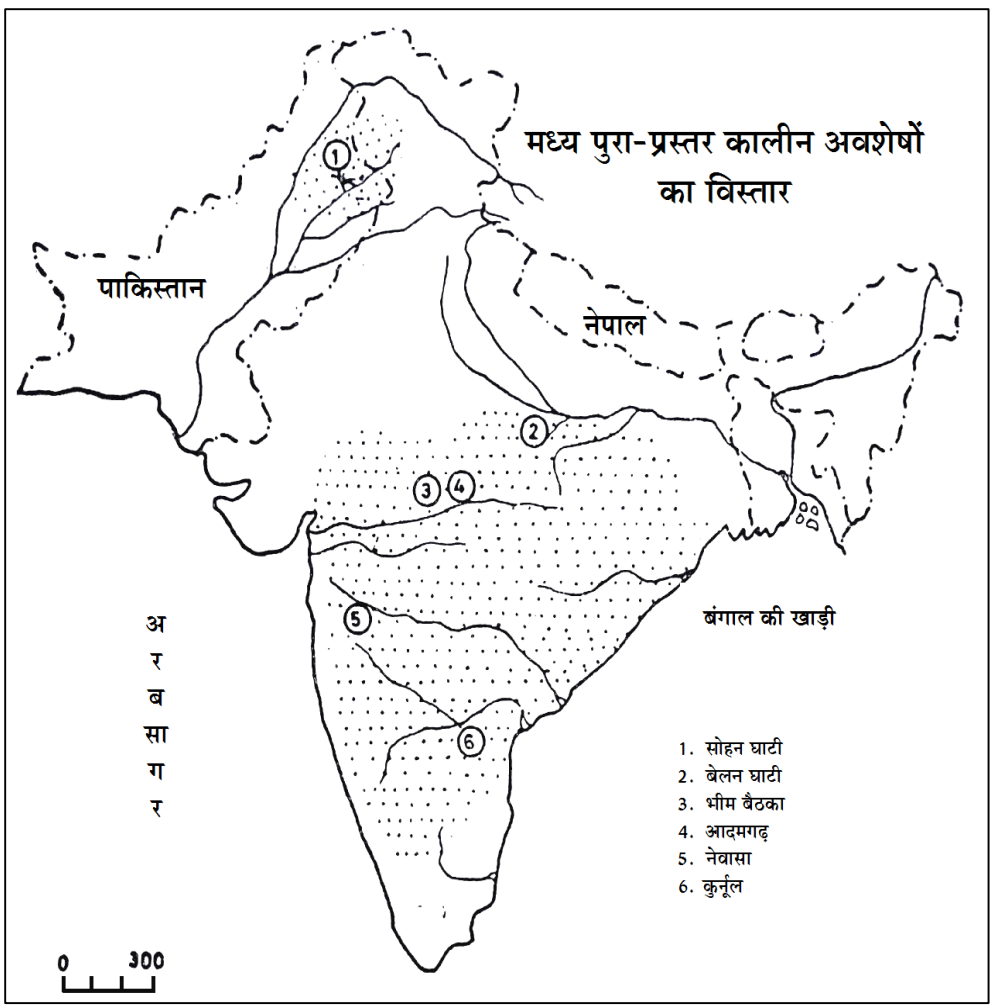

मानचित्र–1: मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति का विस्तार क्षेत्र

इस साक्ष्य के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि बेलन घाटी या विन्ध्य क्षेत्र से उतरकर गंगा मैदान में भी समकालीन मानव द्वारा मानवीय क्रिया–कलाप किया गया हो लेकिन अभी तक इस क्षेत्र से मध्य पुराप्रस्तर संस्कृति के साक्ष्य नहीं मिले है। यमुना के दक्षिणी तट पर काल्पी से इस संस्कृति के साक्ष्य मिले है।

5.5 उपकरण

मध्यपुरापाषाण काल के अधिकांश उपकरणों का निर्माण फलक अथवा फलक–ब्लेड पर हुआ है। उपकरणों में विभिन्न आकार–प्रकार के स्कैपरों की प्रधानता मिलती है (चित्र संख्याः 15)। छिद्रक, ब्यूरिन तथा बेधक अन्य प्रमुख उपकरण प्रकार हैं (चित्र संख्याः13)। यदा–कदा छोटे–छोटे किन्तु अत्यन्त सुन्दर हैण्डएक्स तथा क्लीवर भी मिलते है। इसके अतिरिक्त बहुत से फलक, ब्लेड (चित्र संख्याः 14) तथा चक्राभ क्रोड़ भी मिले है। फलकों, ब्लेडों तथा फलकों पर बने स्क्रेपरों की अधिकता के कारण मध्य पुरापाषाणिक संस्कृति को 'फलक संस्कृति' की संज्ञा दी जाती है।

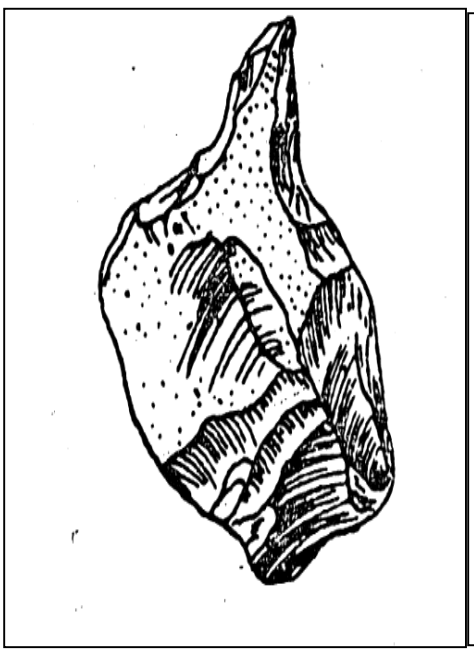

चित्र संख्या–13ः छिद्रक

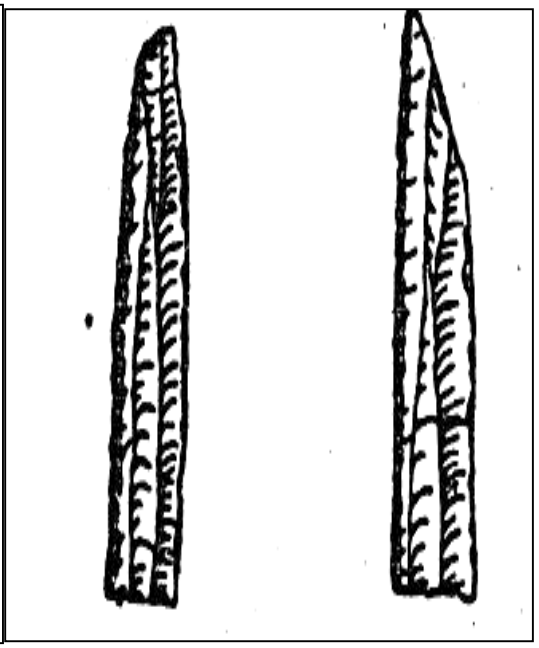

चित्र संख्या–14ः ब्लेड

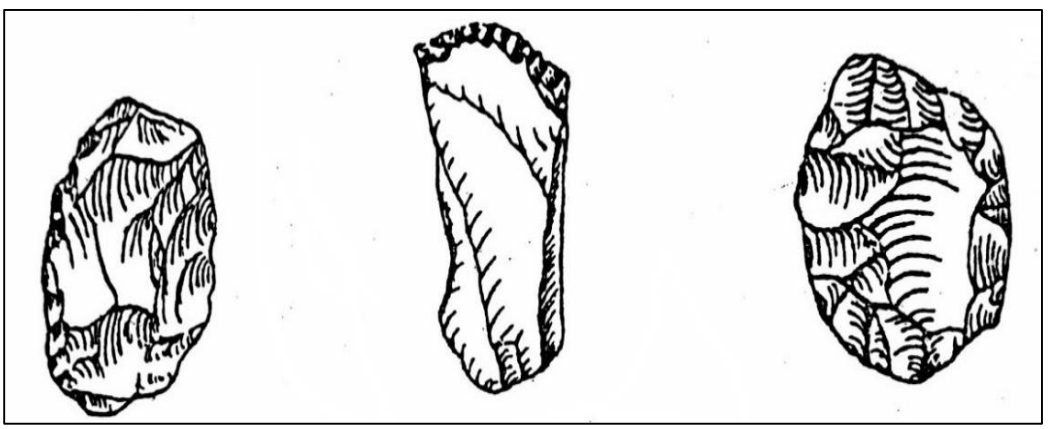

चित्र संख्या–15ः स्क्रैपर के विभिन्न प्रकार

मध्य पुरापाषाण काल का तिथि निर्धारण करना एक जटिल समस्या है। अब तक जो कार्य हुए हैं उनके आधार पर मध्य पुरापाषाण काल की तिथि 165000 वर्ष पूर्व से 40000 वर्ष निर्धारित की गयी है (वर्मा. 2001 : 63–65)।

5.6 नेवासा

नेवासा पुरास्थल का मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति के संदर्भ में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि सर्वप्रथम मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति से संबंधित साक्ष्य नेवासा नामक पुरास्थल से ही प्राप्त किए गए थे। नेवासा, महाराष्ट्र के अहमद नगर जिले में जिला मुख्यालय से उत्तर–पूर्व की दिशा में गोदावरी की प्रमुख सहायक प्रवरा नामक नदी के दोनों तटों पर स्थित हैं। एम० एन० देशपाण्डे ने इस क्षेत्र के पुरातात्त्विक महत्त्व की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। दकन कॉलेज, पुणे की ओर से सन् 1954–55 एवं 1955–56 में और उसके बाद 1959–60 तथा 1960–61 में एच० डी० सांकलिया के निर्देशन में एस० बी० देव तथा जेड०डी० अंसारी ने यहाँ पर उत्खनन एवं अन्वेषण का संचालन किया था। नेवासा और उसके आस–पास किये गए अन्वेषण के परिणामस्वरूप पुरापाषाण काल के पुरावशेषों के विषय में भी जानकारी प्राप्त हुई है। नेवासा के उत्खनन के परिणामस्वरूप ताम्र–पाषाणिक संस्कृति के विषय में भी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। नेवासा के अन्वेषण एवं उत्खनन के परिणामस्वरूप छः सांस्कृतिक कालों के विषय में जानकारी मिली हुई है–

1. निम्न पुरापाषाण काल (1,50,000 ई० पू०),
2. मध्य पुरापाषाण काल (25,000 ई० पू०),
3. ताम्र पाषाण काल (15,00–1,000 ई० पू०),
4. प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल (150 ई० पू०–50 ई० पृ०).
5. परवर्ती ऐतिहासिक काल (50 ई० पू० 200 ई०),
6. मुस्लिम– मराठा काल (1400–1700 ई०)।

नेवासा के आस–पास प्रवरा नदी केजिस भाग में सर्वेक्षण किया गया था उसके अन्तर्गत निम्न पुरापाषाण काल के पुरावशेष मिले हैं। निम्न पुरापाषाण काल के हैण्ड एक्स, क्लीवर, स्क्रेपर तथा कोर एवं फलक यहाँ के ग्रेवल जमाव से प्राप्त हुए हैं। हाथी, घोड़े तथा मवेशियों के जीवाश्म भी यहाँ से मिले हैं। गुदरुन कार्बिनस ने प्रवरा एवं चिरकी नाले के संगम पर स्थित चिरकी–नेवासा नामक निम्न पुरापाषाणिक पुरास्थल की खोज की थी, जहाँ पर सन् 1966 से 1969 ई० के मध्य उत्खनन कार्य हुआ। चिरकी–नेवासा के उत्खनन से 2,407 पाषाण उपकरण प्रकाश

में आये हैं, जो पूर्ण निर्मित, अर्द्ध–निर्मित एवं निर्मीयमाण अवस्था में मिले हैं। इनमें विविध प्रकार के हैण्डएक्स, क्लीवर, स्क्रेपर, क्रोड तथा फलक आदि उपकरण मिले हैं।

नेवासा से मध्य पुरापाषाण काल के उपकरण भी मिले हैं। सन् 1954 में मध्य पुरापाषाण काल के फलक प्रधान उपकरणों का अध्ययन प्रवरा नदी के बायें तट पर स्थित नेवासा के पुरास्थल पर किया गया था। इस अन्वेषण के परिणामस्वरूप भारतीय मध्य पुरापाषाण काल के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई थी। यहाँ से जो उपकरण मिले हैं वे मुख्यतः फलक पर बने हुए स्क्रेपर हैं। स्क्रेपरों के अतिरिक्त छिद्रक, ब्यूरिन तथा वेधक आदि प्राप्त हुए हैं। ये उपकरण द्वितीय ग्रेवल के स्तरित जमाव से मिले हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति के लिए नेवासा पुरास्थल से प्राप्त फलक उपकरणों का महत्वपुर्ण स्थान है।

5.7 बेलन नदी घाटी

बेलन नदी घाटी मिर्जापुर से लेकर इलाहाबाद तक विस्तृत हैं। जहाँ से निम्न पुरापाषाण काल से लेकर ताम्रपाषाण काल तक का एक सम्पूर्ण क्रम मिलता हैं। बेलन टोन्स की एक सहायक नदी है एवं टोन्स, गंगा की सहायक नदी है। बेलन नदी मुख्यतया इलाहाबाद के कोरांव और मेजा तहसील क्षेत्र में बहती हैं। बेलन की एक अन्य सहायक नदी सेवती है। बेलन का प्राचीन जमाव लगभग 18 मीटर मोटा हैं। जिसे स्तर विन्यास के आधार पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जी0 आर0 शर्मा ने 12 इकाई में बाँटा। ये सारे जमाव एक ही स्थल से भी मिलते है और अलग–अलग जगहों पर दो या तीन स्तरों के रूप में उपलब्ध होते है। बेलन के जमाव में सबसे निचले जमाव में अपक्षरित विन्ध्य का बलुआ पत्थर है। इस जमाव के ऊपर लैटराइट का जमाव हैं। तथा इस लैटराइट जमाव के ऊपर 4.5 मीटर का बोल्डर काग्लोमेंरेट का जमाव हैं जिसे सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम के नाम से जाना जाता हैं। इस जमाव में छोटे–छोटे पेबल, लैटराइट के टुकड़े आदि सम्मिलित हैं। ये बोल्डर बेड रोल्ड नहीं हैं। इससे ऐसा लगता हैं कि ये कहीं दूर से आकर एकत्रित नही हुआ एवं यह ग्रैवल प्रथम का जमाव स्थानीय हैं।

इस ग्रैवल जमाव के ऊपर 3.5 मीटर का सिल्ट का मोटा जमाव हैं। इस जमाव के ऊपर एक ग्रैवल का जमाव मिला। जिसकी मोटाई लगभग 5 मीटर हैं, जिसे द्वितीय ग्रेवल कहा जाता हैं। इस जमाव से जो उपकरण मिले है वे सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम की तुलना में छोटे–छोटे हैं। इस सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है, जो सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (अ), सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (ब) तथा सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (स) में बाँटा गया हैं। सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय के ऊपर एक लाल बालू का जमाव मिला है। जिसे चार उपभागो में विभाजित किया गया है।

- Reddish sand

- Sandy cemented sheets & Gravel
- Reddish Sand/Silt
- Pebble bed

इस Reddish sand जमाव के ऊपर Yellow silt का जमाव है, जिसके ऊपर पुनः एक तीसरे ग्रेवल का जमाव हैं। जिसे सिमेन्टेड ग्रेवल तृतीय कहते हैं। इस ग्रेवल तृतीय जमाव के ऊपर काले रंग की मृदा का 2–3 मीटर का जमाव मिलता है। इस जमाव के बाद 4 मीटर के लोयस का जमाव हैं, जिसके दो स्तर मिलते है। बेलन का उपरोक्त जमाव प्रातिनूतन काल से लेकर नूतन काल तक के विभिन्न जलवायु के क्रम को प्रदर्शित करता हैं। Bed rock के ऊपर लैटेराइट का जमाव ऊष्ण कटिबन्धीय जलवायु एवं अत्यन्त नम जलवायु का सूचक हैं, जबकि इसके ऊपर ग्रवेल प्रथम का आद्र जलवायु तथा सिल्ट (Silt) का जमाव शुष्क जलवायु का परिचायक हैं। किन्तु ग्रेवल द्वितीय के जमाव से सिल्ट (Silt) के छोटे–छोटे कण मिले हैं। इससे ऐसा लगता है, कि आद्र दशाओं के मध्य थोड़े समय के लिए शुष्क दशाओ का व्यवधान था। ग्रवेल द्वितीय के बाद रेडिस सैन्ड (Reddish sand) या सिल्ट (Silt) का जमाव शुष्क जलवायु की ओर संकेत करता है। सिल्ट (Silt) का जमाव पानी के स्थिर होने का सूचक हैं अर्थात इस समय पानी तेजी से प्रवाहित नहीं हो रहा था। किन्तु यदा–कदा इसके मध्य बालू युक्त ग्रवेल का जमाव हैं एवं पेबल बेड आद्र जलवायु की दशाओं का संकेत करता हैं।

5.8 उपकरण प्रकार

ग्रेवल प्रथम के जमाव से पेबल, हैन्डेक्स, क्लीवर (Cleaver), शल्क (Flake) मिले हैं। जिस पर पुनर्गढ़न का प्रभाव मिलता है। ये सभी उपकरण निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इसके बाद के स्तर Mottled clay का जमाव हैं। जिसमें कोई उपकरण नहीं मिला है।

ग्रेवल द्वितीय से मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति के उपकरणों का प्रभाव मिला है। ग्रेवल द्वितीय से प्राप्त उपकरण गोलाकार एवं विकसित अवस्था के प्राप्त होते है। ग्रेवल द्वितीय से प्राप्त सभी उपकरण मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इस चरण के उपकरणों में निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति से सम्बन्धित उपकरणों के साथ–साथ (Scrapper) छोलनी का प्रभाव मिला हैं, जो क्वार्टजाइट, चर्ट के शल्क (Flake) पर बनी हैं। कुछ उपकरणों पर दोबारा फलक निकालने का प्रभाव मिला है। ग्रेवल द्वितीय (ब) से विशिष्ट मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृतियो से सम्बन्धित उपकरण मिले है जो ब्लेड (blade),शल्क(Flake)एवं स्क्रेपर(Scrapper)परम्परा के हैं, जिसका निर्माण चर्ट पत्थर पर हुआ है। इस स्तर से क्वाटजाइट के बने उपकरणों की संख्या नगण्य हैं। इसी प्रकार के उपकरण ग्रेवल द्वितीय (स) से भी प्राप्त हुए हैं। ग्रेवल तृतीय से उच्च पुरापाषाणकालीन

संस्कृति के उपकरण प्राप्त होते हैं, जिसमें ब्लेड (Blade)एवं ब्यूरिन का प्रभाव मिला हैं। इस जमाव से किसी भी प्रकार का मध्य–पुरापाषाण कालीन उपकरण नहीं मिलता है। इस चरण की C-14 तिथि 23840 ± 830 तथा 17765 ± 340 ई0 पू0 है।

5.9 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है, कि बेलन नदी घाटी से पुरापाषाण कालीन संस्कृति के तीनों चरण के प्रमाण क्रमशः सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम, ग्रेवल द्वितीय और ग्रेवल तृतीय से प्राप्त होते हैं जो इस बात की ओर संकेत करते है कि इस क्षेत्र में मानव जीवन का प्रारम्भ पुरापाषाण कालीन संस्कृति से हो गया था। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जी. आर. शर्मा ने बताया है कि इस तीनो ग्रेवल के अलावा एक चतुर्थ ग्रेवल की भी सम्भावना हैं, जो मध्य पाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित माना जा सकता हैं।मध्य पुरापाषाण काल में होमोनियण्डरथल मानव का उद्भव होता है। ये मानव अपने पूर्ववर्ती प्रजाति से विकसित होता हैं तथा इस काल के उपकरण में विकास परिलक्षित होता हैं। इस काल के उपकरण पहले की अपेक्षा छोटे एवं अच्छे किस्म के बनाए जाने लगे थे। इस काल में शल्क (Flake) उपकरणों की अधिकता मिलती हैं।इस काल में मानव फलक पर बने उपकरणों का प्रयोग करता था। जिसमे स्क्रैपर, प्वाइंट, बोरर इत्यादि प्रमुख हैं हालांकि पहले से प्रचलित उपकरण भी प्रयोग में थे। इस काल में भी मानव का जीवन शिकार के ऊपर निर्भर था। इस काल को होमो निएंडरथल मानव से संबंधित किया जाता है, जो अपने पूर्ववर्ती काल से शारीरिक बनावट और मानसिक रूप से विकसित अवस्था का मानव था। इसने उपकरणों को पुनर्गठन के माध्यम से बनाना शुरू कर दिया था अर्थात उपकरण को तेज और धारदार तथा मारक क्षमता बढ़ाने पर ध्यान देना शुरू कर दिया था हालांकि इस काल के उपकरण भी पाषाण पर निर्मित थी प्राप्त होते हैं।

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
2. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.
3. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
4. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
5. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः

इलाहाबाद।

6. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

5.11 बोध प्रश्न

1. मध्य पुरापाषाणिक संस्कृति की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. सोन नदी घाटी के मध्य पुरापाषाणिक जमाव की विवेचना कीजिए।
3. बेलन नदी घाटी केमध्य पुरापाषाणिक संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

इकाई–6 उच्च पुरापाषाण काल –रेनिगुंटा, येर्रगोंडापल्लम, बेलन घाटी

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 उच्च पुरापाशाण काल

6.4 रेनिगुंटा

6.5 तिथि

6.6 बेलन घाटी

6.7 उपकरण प्रकार

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.9 बोध प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

पुरापाषाण काल का अन्तिम चरण, उच्च पुरापाषाण काल है। स्तर विन्यास के आधार पर उच्च पुरापाषाण काल, मध्य पुरा पाषाणकाल के बाद तथा मध्य पाषाण काल के पहले आता है। यह काल पूर्ववर्ती काल से बहुत ही भिन्नता लिए हुए था, खासकर मानव विकास की दृष्टि से। इस काल में मेधावी मानव के विकास के साथ ही, मानव के सांस्कृतिक विकास के नवीन स्वरुप उभर कर सामने आते हैं। इसका कारण मानव के कर्परीय धारिता में विकास तथा उसकी शारीरिक संरचना, विशेष रुप से उसके चेहरे में परिवर्तन दिखाई देता है। इन परिवर्तनों की वजह से वह परस्पर संवाद, हाथ पर नियंत्रण की क्षमता से मनचाहा उपकरण निर्माण तथा चित्रकारी करने लगा।कलात्मक वस्तुओं का निर्माण भी इस काल की संस्कृति की एक विशेषता बन गयी (वर्मा. 2001 : 81–82)।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- उच्च पुरापाषाण काल के विषय में।
- उच्च पुरापाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं के विषय में।
- प्रमुख उपकरण प्रकार के विषय में।
- उपकरणीय विकास एवं तकनीक के विषय में।

6.3 उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति

भारत में उच्च पुरापाषाण काल के अस्तित्व की पहचान दशकों पूर्व स्पष्ट हो पायी, जब गोवर्धन राय शर्मा ने बेलन घाटी का सर्वेक्षण किया तो बेलन घाटी के तृतीय ग्रेवेल जमाव से इस संस्कृति की पहचान की गयी। इसके पूर्व पुरातत्वविद् यह स्वीकार कर चुके थे कि भारतीय उपमहाद्वीप में उच्चपुरापाषाण काल का अस्तित्व था ही नहीं। अतः इस चरण के अभाव के कारण प्रारम्भिक पाषाण युग का विभाजन यहाँ यूरोपीय ढाँचे से अलग अफ्रीकी ढाँचे के आधार पर कर दिया गया क्योंकि अफ्रीका में उच्च पुरापाषाण काल का अस्तित्व अस्पष्ट था। जिस विभाजन को 1961 में दिल्ली में हुई विद्वानों की परिषद में अपनाया गया, उसमें पुरापाषाण काल के प्रथम दो चरण पूर्व पुरापाषाण काल तथा मध्य पुरापाषाण काल को प्रारम्भिक पाषाण युग में तथा मध्य पाषाण युग को उत्तर पाषाण युग में संयोजित किया गया था। इस व्यवस्था में उच्च पुरापाषाण काल की रिक्तिता व्यक्त नहीं होती थी। लेकिन बाद में उच्च पुरापाषाण काल के अस्तित्व की स्थापना हो जाने पर योरोपीय ढांचे के अनुसार पुरापाषाण काल की संस्कृतियों का विकास भारतीय उपमहाद्वीप में प्रमाणित हो गया, जिसके कारण कालान्तर में पुनः पुरापाषाण काल के तीनों चरणों तथा मध्य पाषाण काल के तालमेल की आवश्यता हुई। अतः अब यूरोपीय पाषाण युग के विभाजन को स्वीकार कर लिया गया है (जायसवाल. 1987 : 73)

उच्च पुरापाषाण काल के सन्दर्भ के लिए बेलन घाटी सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र साबित हुआ। जहाँ पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गोवर्धनराय शर्मा द्वारा सर्वेक्षण कार्य किया गया तथा अनुसंधानों के परिणाम स्वरुप बेलन घाटी के तृतीय ग्रेवेल से उच्च पुरापाषाण कालीन उपकरणों की प्राप्ति हुई। उन्होंने अनेक ऐसे स्थलों को खोज निकाला जहाँ ब्लेड–ब्यूरिन उद्योगों के उपकरण स्तरित जमावों से प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त एम0 एल0 के0 मूर्ति को भारत के दक्षिण–पूर्वी तटीय प्रदेशों से, के0 पदैया को सोरापुर दोआब से, साली को महाराष्ट्र में पटणे से, अलचिन तथा गूर्डी को बूढ़ा पुष्कर क्षेत्र से इस उद्योग के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हो चुके है। 1974 में डेकन कॉलेज में आयोजित 'प्रीहिस्ट्री 1974' के सेमिनार में उच्च पुरापाषाण काल को उसका उचित स्थान प्राप्त हुआ (वर्मा. 2001 : 83–84)।

उच्च पुरापाषाणिक स्थल भारत में अभी तक उत्तर प्रदेश, बिहार के दक्षिणी पठारी क्षेत्र, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, गुजरात और राजस्थान इन आठ प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं। अधोलिखित पुराक्षेत्र उल्लेखनीय हैं : उत्तर प्रदेश में बेलन घाटी तथा सोनभद्र जिले में चोपन के पास सोन घाटी, बिहार में सिंहभूम, मध्य प्रदेश में जोगदहा, भीमबैठका, बबुरी, रामपुर बाघोर (सीधी जिला), महाराष्ट्र में पटणे, भदणे तथा इनामगांव, आन्ध्रप्रदेश में रेनीगुन्टा, बेमुला, **येर्रगोंडापल्लम** तथा कर्नूल की गुफाएं, कनार्टक में शोरापुर दोआब (गुलबर्गा जिला) गुजरात में विसादी तथा राजस्थान में बूढ़ा–पुष्कर (मानचित्रः 2 देखें)।

इस प्रकार भारत के विभिन्न प्रदेशों के अनेक स्थानों पर स्थित उच्च पुरापाषाणिक स्थलों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप की ही भॉति यहाँ पर भी निश्चित रुप से मध्य पुरापाषाण काल के बाद उच्च पुरापाषाण

काल की स्थिति थी (पाण्डेय. 2008 : 262–263)। वी0के0 जैन के अनुसार उच्च पुरापाषाणिक स्थल भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं, लेकिन बेलन घाटी से प्राप्त साक्ष्य बहुत ही महत्वपूर्ण है जहाँ पुरापाषाण से लेकर मध्य पाषाण काल तक का साक्ष्य प्राप्त होता है। इलाहाबाद से 77 कि0मी0 की दूरी पर स्थित चोपनीमाण्डो स्थल है जहाँ से परवर्ती उच्च पुरा पाषाण काल से लेकर आद्य नव पाषाण काल तक का साक्ष्य मिलता है। इसी कारण यह क्षेत्र पाषाण काल के लिए महत्वपूर्ण है (जैन. 2006 : 50–61)।

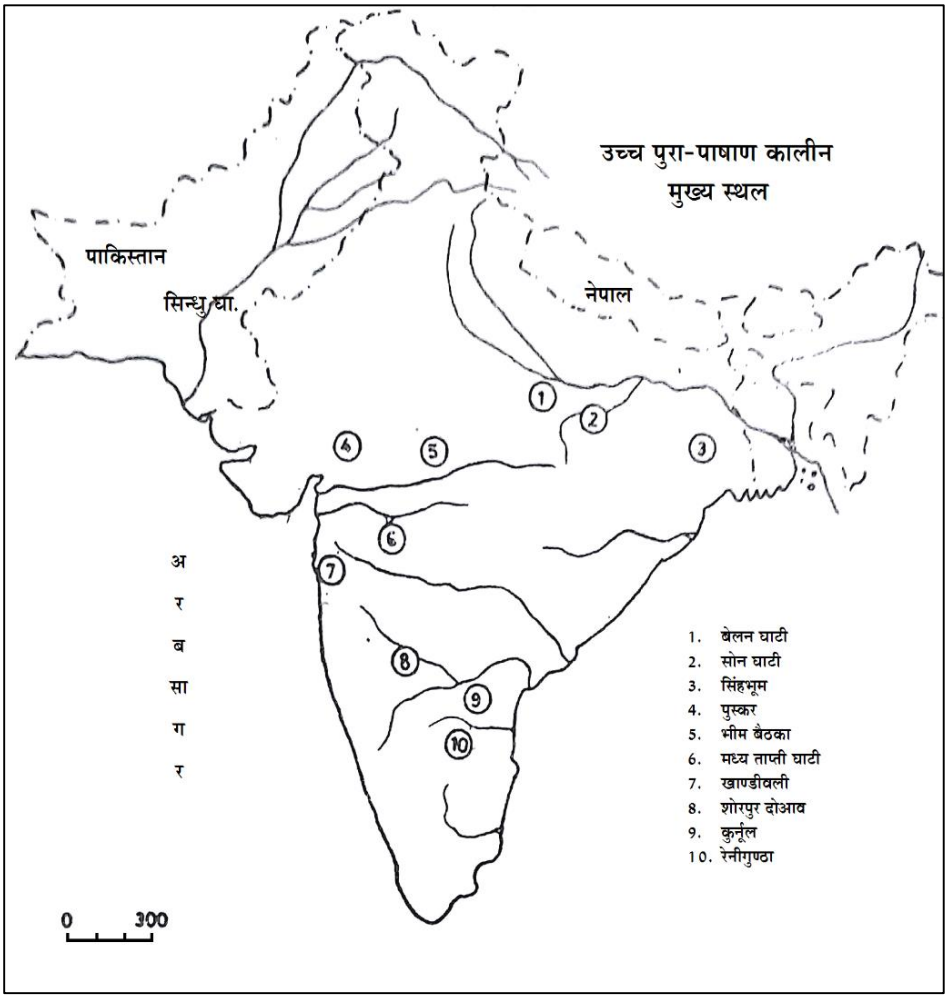

मानचित्र–2: उच्च पुरापाषाण कालीन प्रमुख स्थल

6.4 रेनीगुन्टा

उच्चपुरापाषाण काल का सबसे प्रखर साक्ष्य आन्ध्र प्रदेश के चितूर जिले में रेनीगुन्टा नामक स्थान पर मिला है (भट्टाचार्य. 1999 : 120)। इस काल के उपकरण प्रायः ब्लेड पर बने है तथा ब्यूरिन इस काल का नया उपकरण प्रकार है, इसलिए एक और शब्दावली ''ब्लेड–ब्यूरीन कल्चर'' प्रयुक्त होती है। इसकाल के प्रमुख

उपकरणों में ब्लेड, ब्यूरिन, चाकू, घाट युक्त ब्लेड (चित्र संख्याः 16) आदि है (संकालिया. 1964: 20–40)। ब्लेड ऐसे फलकों को कहते हैं जिनकी लम्बाई चौड़ाई से अधिक होती है तथा भुजाएँ लगभग समानान्तर होती है (वर्मा. 2001: 104)। यूरोप में इस काल में हड्डी के बहुत से उपकरण मिलने लगते हैं जिसमें सुई, छिद्रित सुई, प्वांइट, मछली मारने का काँटा, हार्पून तथा ऐरो स्ट्रेटनर्स (Arrow Straightenere)प्रमुख हैं (बर्किट. 1963 : 75–84)।

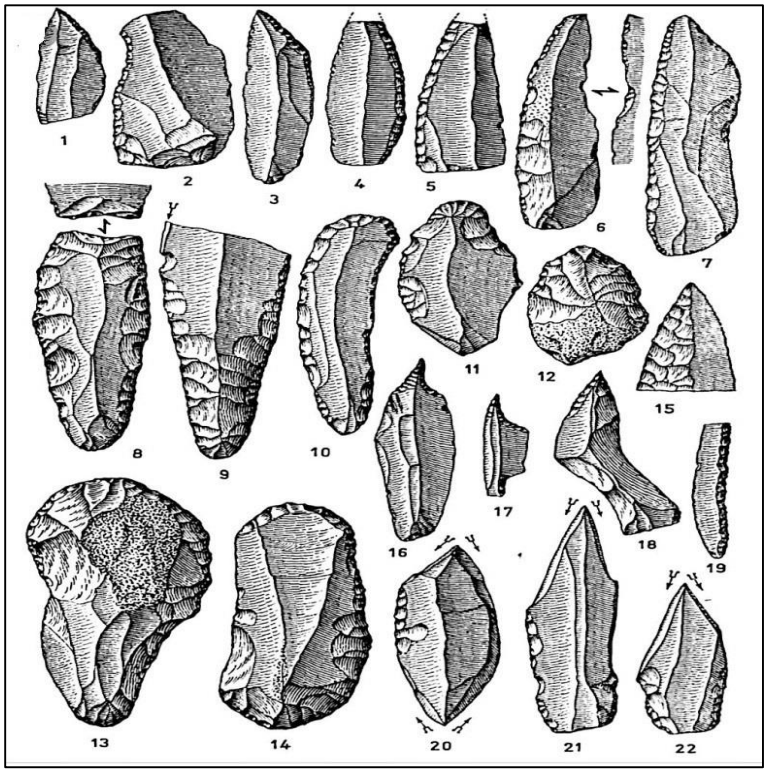

चित्र संख्या–16: ब्लेड एवं ब्यूरीन उपकरण प्रकार

उच्च पुरापाषाण काल के उपकरणों में यांत्रिक प्रणाली का समावेश होता है। अब ये लोग लीवर के माध्यम से भालों को फेकने की विद्या जान गये थे (सेमेनव. 1864: 202–203)। इस काल के उपकरणों में सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार धनुष तथा बाण का था। धनुष बाण के प्रयोग से इस काल के मानव की मारक क्षमता में बहुत विकास हुआ। इसके अतिरिक्त विशिष्ट उपकरण तथा छिद्रक, आँख युक्त सुई, सिल–लोढ़े आदि का भी विकास हुआ। सुई का उपयोग सिलने के लिए किया जाता था। आज भी सुई का उपयोग सिलने के कार्य के लिए ही किया जाता है। सिल–लोढ़े का प्रयोग रंगों को बनाने तथा पत्थर को घिसने आदि के लिए करते थे (वर्मा. 2001: 81–82)।

इस काल में मानव अपने विकास के लिए निश्चित रुप से आवासों का निर्माण करने लगा था। चेकोस्लोवाकिया से साइबेरिया तक इस प्रकार के आवास मिले है जिनको उच्च पूर्व पाषाण कालीन मानव ने निवास के लिए निर्मित किया था

(क्लार्क. 1952: 132–133)। इस काल का मानव अब नदी घाटियों के आस–पास अपना आवास बनाना शुरु कर दिया था क्योंकि नदी के पास पीने के लिए पानी तथा खाने के लिए शिकार आसानी से उपलब्ध हो जाता था, जो जीवन के लिए सबसे आवश्यक अंग था। इसका उदाहरण बेलन घाटी, सोन घाटी आदि है।

इस काल की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति उनकी कलात्मकता कही जा सकती है, जो प्रायः गुहा अथवा शैल चित्रों, सचल कलात्मक वस्तुओं तथा अलंकारों के रुप में मिलती है। सचल कलात्मक वस्तुओं में लघु मूर्तियाँ, हड्डी तथा हाथी दाँत पर तराश कर बनाई गई आकृतियाँ भी सम्मिलित है (चित्र संख्याः 17)। इन कलात्मक वस्तुओं के माध्यम से उच्च पुरापाषाण युगीन मानव के मानसिक क्रिया–कलापों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है। पशु चित्रों के साथ–साथ कुछ ऐसे चित्र भी मिले है, जिसमें पशु का मुखौटा पहने हुए मनुष्य का चित्र है। कुछ जादू–टोने तथा कुछ धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित चित्र हैं। इस काल की कला मानव की विकसित होती हुई संवदेनशीलता तथा चेतना का भी परिचायक है (वर्मा. 2007 : 82)।

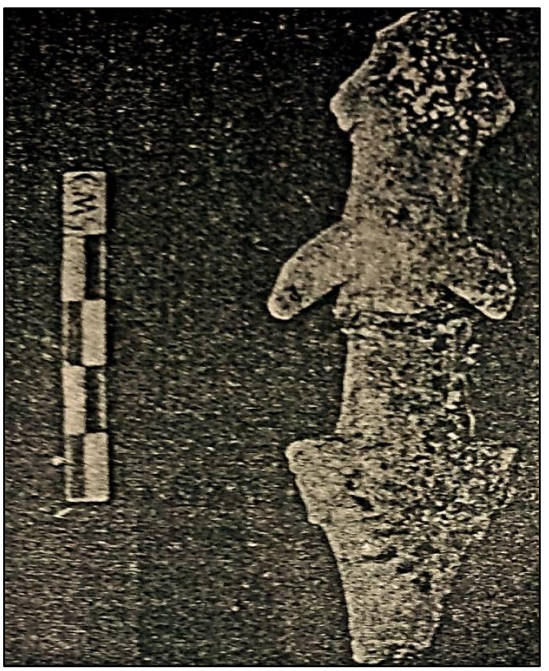

चित्र संख्या–17: हड्डी की आकृति (बेलन घाटी के लोहदा नाले से प्राप्त)

चित्रों को बनाने के लिए नैसर्गिक रंगों का प्रयोग करते थे। काला, लाल, पीला और सफेद रंगों का विशेष रुप से प्रयोग किया गया है। रंगों का चूर्ण बनाकर उसमें चर्बी मिला दी जाती थी। उनके द्वारा प्रयुक्त रंग अभी भी यथावत् मिलते है। ब्रश का प्रयोग वे करते थे या नहीं, कहना कठिन है। यह सर्वथा सम्भव है कि वे इसका प्रयोग जानते हों क्योंकि ब्रश बनाने के लिए उन्हें बाल पर्याप्त मात्रा में सुलभ थे (गोयल. 2008: 56)। फ्रेजर, रिनाख, तथा बर्किट इत्यादि विद्वानों ने यह

मत प्रकट किया है कि जो उच्च पुरापाषाणिक मानव के चित्र है उनकी धार्मिक विचारधारा तथा खाद्य समस्या से सम्बन्धित हैं (गोयल. 2008: 57)। भारत में भीमबैठका, बाघोर आदि स्थानों से चित्रण अभिप्राय का प्रमाण मिला है।

6.5 तिथि

उच्चपुरापाषाण काल की तिथि विभिन्न स्थलों से प्राप्त अवशेषों के कार्बन–14 तिथि विधि द्वारा अलग–अलग प्राप्त होती है। उच्च पुरापाषाण कालीन स्थल से अब तक लगभग इकतीस तिथियाँ प्राप्त हो चुकी है। इनमें प्राचीन तिथि चन्द्रसाल से प्राप्त शुतुर्मुर्ग के अण्डों से है।

CRN 10638-36650±600

CRN 10639-38900±750

इसी प्रकार दो तिथियाँ मेहताखेरी से उपलब्ध हैं जो क्रमशः

AA 8463-41900

तथा

A6518-30,680±1040, 920 हैं।

ये तिथियाँ शुतुमुर्ग के अण्डों की हैं (वर्मा, 2001 : 93) दो और तिथि महाराष्ट्र के घोड़ नामक सरिता के तट पर स्थित इमामगाँव से तथा दो तिथि उत्तर प्रदेश में बेलन नदी के तट पर स्थित देवघाट नामक पुरास्थल से प्राप्त नमूनो पर आधारित है–

इनामगाँव, टी0एफ0– 1003–21,110±615 बी.पी.

(21725±630 बी.पी.)

इनामगाँव, टी0एफ0– 1117–18,750±350 बी.पी.

(19290±630 बी.पी.)

देवघाट, पी0आर0एल0 86–23,840±83 बी.पी.

देवघाट, टी0एफ0 1245–17765±340 बी.पी.

ये चारों तिथियाँ 21000 से 18000 ई0पू0 की है, जबकि उच्च पुरापाषाण काल अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में था। बेलन क्षेत्र में उच्च पुरापाषाण काल के आरम्भ की तिथि 30000ई0पू0 अनुमानित की गई है (पाण्डेय, 2008, 266)।

उपयुक्त तिथियों के अतिरिक्त 30 तिथियाँ और है, जो 30000 तथा 35000 के बीच है (मिश्रा. 1995: 14)। सबसे बाद की तिथि 10,000 वर्ष के लगभग है। इन तिथियों के आधार पर भारत के उच्च पुरापाषाण काल की तिथि 40,000 वर्ष से 10,000 वर्षों के बीच निर्धारित की जा सकती है।

6.6 बेलन नदी घाटी

बेलन नदी घाटी मिर्जापुर से लेकर इलाहाबाद तक विस्तृत है, जहाँ से निम्न पुरापाषाण काल से लेकर ताम्रपाषाण काल तक का एक सम्पूर्ण क्रम मिलता हैं। बेलन टोन्स की एक सहायक नदी है एवं टोन्स, गंगा की सहायक नदी है। बेलन नदी मुख्यतया इलाहाबाद के कोरांव तहसील क्षेत्र में बहती हैं। बेलन की एक अन्य सहायक नदी सेवती है। बेलन का प्राचीन जमाव लगभग 18 मीटर मोटा हैं, जिसे स्तर विन्यास के आधार पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जी0 आर0 शर्मा ने 12 इकाई में बाँटा। बेलन के जमाव में सबसे निचले जमाव में अपक्षरित विन्ध्य का बलुआ पत्थर है। इस जमाव के ऊपर लैटराइट का जमाव हैं तथा इस लैटराइट जमाव के ऊपर 4.5 मीटर का बोल्डर काग्लोमेंरेट का जमाव हैं जिसे सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम के नाम से जाना जाता हैं। इस जमाव में छोटे–छोटे पेबल, लैटराइट के टुकड़े आदि सम्मिलित हैं। ये बोल्डर बेड रोल्ड नहीं हैं। इससे ऐसा लगता हैं कि ये कहीं दूर से आकर एकत्रित नही हुआ एवं यह ग्रैवल प्रथम का जमाव स्थानीय हैं।

इस ग्रैवल जमाव के ऊपर 3.5 मीटर का सिल्ट का मोटा जमाव हैं। इस जमाव के ऊपर एक ग्रैवल का जमाव मिला। जिसकी मोटाई लगभग 5 मीटर हैं। जिसे द्वितीय ग्रेवल कहा जाता हैं। इस जमाव से जो पेबल और प्रस्तर खण्ड मिले है। वे सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम की तुलना में छोटे–छोटे हैं। इस सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय को पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है, जो सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (अ), सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (ब) तथा सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय (स) में बाँटा गया हैं। सिमेन्टेड ग्रेवल द्वितीय के ऊपर एक लाल बालू का जमाव मिला है, जिसे चार उपभागो में विभाजित किया गया है।

- Reddish sand
- Sandy cemented sheets & Gravel
- Reddish Sand/Silt
- Pebble bed

इस Reddish sand जमाव के ऊपर Yellow silt का जमाव है। जिसके ऊपर पुनः एक तीसरे ग्रेवल का जमाव हैं। जिसे सिमेन्टेड ग्रेवल तृतीय कहते हैं। इस ग्रेवल तृतीय जमाव के ऊपर काले रंग की मृदा का 2–3 मीटर का जमाव मिलता है। इस जमाव के बाद 4 मीटर के लोयस का जमाव हैं। बेलन का उपरोक्त जमाव प्रातिनूतन काल से लेकर नूतन काल तक के विभिन्न जलवायु के क्रम को प्रदर्शित करता हैं। Bed rock के ऊपर लैटेराइट का जमाव ऊष्ण

कटिबन्धीय जलवायु एवं अत्यन्त नम जलवायु का सूचक हैं, जबकि इसके ऊपर ग्रवेल प्रथम का आद्र जलवायु तथा सिल्ट (Silt) का जमाव शुष्क जलवायु का परिचायक हैं। किन्तु ग्रेवल द्वितीय के जमाव से सिल्ट (Silt) के छोटे–छोटे कण मिले हैं। इससे ऐसा लगता है, कि आद्र दशाओं के मध्य थोड़े समय के लिए शुष्क दशाओ का व्यवधान था। ग्रवेल द्वितीय के बाद रेडिस सैन्ड (Reddish sand) या सिल्ट (Silt) का जमाव शुष्क जलवायु की ओर संकेत करता है। सिल्ट (Silt) का जमाव पानी के स्थिर होने का सूचक हैं। अर्थात इस समय पानी तेजी से प्रवाहित नहीं हो रहा था। किन्तु यदा–कदा इसके मध्य बालू युक्त ग्रवेल का जमाव हैं एवं पेबल बेड आद्र जलवायु की दशाओं का संकेत करता हैं।

6.7 उपकरण प्रकार

ग्रेवल प्रथम के जमाव से पेबल, हैन्डेक्स, क्लीवर (Cleaver), शल्क (Flake) मिले हैं। जिस पर पुनर्गढ़न का प्रमाण मिलता है। ये सभी उपकरण निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इसके बाद के स्तर Mottled clay के जमाव में कोई उपकरण नहीं मिला है। ग्रेवल द्वितीय से मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति के उपकरणों का प्रमाण मिला है। ग्रेवल द्वितीय से प्राप्त उपकरण गोलाकार एवं विकसित अवस्था के प्राप्त होते है। ग्रेवल द्वितीय से प्राप्त सभी उपकरण मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इस चरण के उपकरणों में निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति से सम्बन्धित उपकरणों के साथ–साथ (Scrapper) छोलनी का प्रमाण मिला हैं, जो क्वार्टजाइट, चर्ट के शल्क (Flake) पर बनी हैं। कुछ उपकरणों पर दोबारा फलक निकालने का प्रमाण मिला है। ग्रेवल द्वितीय (ब) से विशिष्ट मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृतियो से सम्बन्धित उपकरण मिले है जो ब्लेड (blade), शल्क (Flake) एवं स्क्रेपर (Scrapper) परम्परा के हैं, जिसका निर्माण चर्ट पत्थर पर हुआ है। इस स्तर से अच्छे क्वार्टजाइट के बने उपकरण भी मिलते हैं। इसी प्रकार के उपकरण ग्रेवल द्वितीय (स) से भी प्राप्त हुए हैं। ग्रेवल तृतीय से उच्च पुरापाषाणकालीन संस्कृति के उपकरण प्राप्त होते हैं। जिसमें ब्लेड (Blade) एवं ब्यूरिन का प्रमाण मिला हैं। चर्ट पत्थर का उपकरण निर्माण के लिए अधिक प्रयोग हुआ है। इस जमाव से किसी भी प्रकार का मध्य–पुरापाषाण कालीन उपकरण नहीं मिलता है। इस चरण की C-14 तिथि 23840 ± 830 तथा 17765 ± 340 ई0 पू0 है।

6.7 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति में होमोसेपियन्स मानव का उद्‌भव होता हैं। यह मानव अपने पूर्ववर्ती काल के मानव से ज्यादा बुद्धिमान और शारीरिक रुप से विकसित

होता हैं। इस काल के उपकरण अपने पूर्ववर्ती काल के उपकरणों से और छोटे मिलते हैं। ये उपकरण Stone blade पे बनने लगते हैं। इस काल के उपकरणों में चाकू, सुई, बाणाग्र इत्यादि मिलते हैं। बेलन नदी घाटी से पुरापाषाण कालीन संस्कृति के तीनों चरण के प्रमाण क्रमशः सिमेन्टेड ग्रेवल प्रथम, ग्रेवल द्वितीय और ग्रेवल तृतीय से प्राप्त होते हैं जो इस बात की ओर संकेत करते है कि इस क्षेत्र में मानव जीवन का प्रारम्भ पुरापाषाण कालीन संस्कृति से हो गया था। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता जी. आर. शर्मा ने बताया है कि इन तीनो ग्रेवल के अलावा एक चतुर्थ ग्रेवल की भी सम्भावना हैं, जो मध्य पाषाण कालीन संस्कृति से सम्बन्धित माना जा सकता हैं।

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अग्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
5. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
6. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.

6.9 बोध प्रश्न

1. उच्च पुरापाषाणिक संस्कृति की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. उच्च पुरापाषाणिक कलात्मक अवशेषों की विवेचना कीजिए।
3. बेलन नदी घाटी के उच्च पुरापाषाणिक संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

इकाई–7 मध्यपाषाण संस्कृति–बीरभानपुर, मोरहाना पहाड़, सराय नाहर राय, लंघनाज, बागोर, तिन्नवल्ली, बॉम्बे,कर्नाटक

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 मध्यपाषाण संस्कृति

7.4 विशेशताए

7.5 शवाधान परम्परा

7.6 बीरभानपुर,

7.7 मोरहाना पहाड़,

7.8 सराय नाहर राय,

7.9 बागोर,

7.10 लंघनाज,

7.11 तिन्नवल्ली,

7.12 बॉम्बे, कर्नाटक,

7.12 सारांश

7.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.15 बोध प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

मध्य पाषाण काल अंग्रेजी भाषा के (Mesolithic) शब्द का अनुवाद है। यह शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों ''(Mesos + lithes)'' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है 'मध्यपाषाण'। 'मध्यपाषाण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हॉडर वेस्ट्राफ ने किया जो उच्च पूर्व पाषाणकाल तथा नव पाषाणकाल के अन्तराल में मिलते थे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- मध्यपाषाण काल के विषय में।
- मध्य पाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं के विषय में।

- मध्यपाषाण कालीन शवाधान परंपरा के विषय में।
- प्रमुख उपकरण प्रकार के विषय में।
- आखेट–संग्राहक चरण के विषय में।

7.3 मध्यपाषाणकालीन संस्कृति

मध्यपाषाण काल प्रागैतिहासिक संस्कृति का मध्यवर्ती चरण है। इस काल के बारे में जब प्रागैतिहासिक अनुसंधान शुरु हुआ तब जानकारी नगण्य थी और प्रागैतिहासिक काल या पाषाणकाल का विभाजन दो भागो में जॉन लुब्बक के द्वारा पुरापाषाणकाल और नव पाषाणकाल में किया गया था। लेकिन जब 1867 ई0 में ए0 सी0 एल कार्लाइल द्वारा सर्वप्रथम विन्ध्य क्षेत्र से लघु पाषाण उपकरणो को प्रतिवेदित किया गया। तब से भारत के पाषाण काल के इतिहास में नया अध्याय जुड़ गया। इन्होंने अपनी खोजो को स्वयं तो प्रकाशित नहीं किया। परन्तु बाद के पुराविदो जैसे– ब्राउन, स्मिथ व आलचिन के लेखो से ज्ञात होता है कि मध्य भारत से यह पुराअवशेष प्राप्त किए गए थें। बांदा, रीवाँ एवं मिर्जापुर जिलो की पहाड़ियो पर स्थित प्राकृतिक शैल गृहो में से कुछ का उत्खनन भी इन्होंने किया। इसी दौरान विश्व स्तर पर सन् 1887 में 'ल माँस द एजि' नामक पुरास्थल की खोज एवं उत्खनन के परिणामस्वरूप पुरापाषाण काल एवं नवपाषाणकाल के मध्य अन्तराल की परिकल्पना का परित्याग कर दिया गया। उच्च पुरापाषाणकाल एवं नव पाषाणकाल के मध्य एक संक्रमणात्मक अवस्था का अस्तित्व स्वीकार किया गया, जिसे मध्य पाषाणकाल माना गया।

इन खोजो के बाद 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कॉक बर्न, ब्रुशफुट, कॉमियाडे इत्यादि विद्वानो ने अपनी खोजो को प्रतिवेदित किया। इसी क्रम में एच. डी. सांकलिया (H.D.Sankaliya) ने लंधनाज एवं बी0 बी0 लाल ने वीरभानपुर में उत्खनन किया। मध्यपाषाणिक संस्कृति से संबंधित अधिक कार्य 1960 के बाद हुआ। 1963 से 1965 ई0 के मध्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्वावधान में R.K.Varma तथा V.D.Misra ने मिर्जापुर के निकट मोरहना पहाड़, वघहीखोर तथा लेखहियॉ में उत्खनन कार्य करवाया। R.V.Joshi तथा M.D.Khare ने 1966 ई0 में आदमगढ़ तथा 1970 में V.N.Mishra ने बागोर पुरास्थल (राजस्थान), इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने चोपनीमाण्डो, बेलनघाटी तथा सरायनाहर राय, महदहा तथा दमदमा में उत्खनन कार्य करवाया। इन खोजों के उपरान्त भारत में मध्य पाषाणकालीन संस्कृति का अस्तित्व स्पष्ट हुआ।

7.4 विशेषाताए :–

मध्यपाषाणिक संस्कृति की मुख्य विशेषताएं:

निम्न है–

1. **जलवायु** :– इस काल की जलवायु अपने पूर्ववर्ती काल की जलवायु से

पूर्णतः भिन्न थी। प्रातिनूतन काल का समापन तथा नूतन काल का प्रारम्भ इस संस्कृति के साथ प्रारम्भ हो चुका था। इससे पूर्ववर्ती काल में जहाँ जलवायु का लंबा चक्र विद्यमान था। वह अब समाप्त प्राय हो गया अर्थात् अत्यान्तिक जलवायु के समापन के साथ समशीतोष्ण जलवायु प्रारम्भ हो गई। विश्व के जिन क्षेत्रों में हिम की चादरे फैली हुई थीं, वे पिघलने लगी तथा घास के विशाल मैदानों में परिवर्तित हो गई। जहाँ दलदल थे, वहाँ जंगल तथा उर्वरा भूमि विद्यमान हो गई, जिससे नवीन प्रकार के जीव जो इस वातावरण के साथ सांमजस्य स्थापित कर सकते थे, का प्रादुर्भाव हुआ। छोटे–छोटे पशुओं जैसे–भेड़, बकरी, हिरण, सुअर गाय, भैंस आदि ने पहले के विशालकाय जानवरो का स्थान ग्रहण कर लिया, जो मध्य पाषाणकालीन संस्कृति के लोगो की जीविका के साधन बने।

2. **खाद्य संचरण से खाद्य संग्राहक अवस्था** :– इस काल का मानव अपने पूर्ववर्ती काल से खाद्य संसाधनों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था। इस काल के पूर्ववर्ती काल में मानव का जीवन शिकार पर निर्भर था। लेकिन इस काल में मानव ने शिकार के साथ–साथ जंगली अनाज के दानों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था। इसलिए इस काल को शिकार एवं खाद्य–संग्रहक अवस्था भी कहा जाता है।

3. **उपकरण प्रकार** :– इस काल के उपकरण अपने पूर्ववर्तीकाल से पूर्वतः भिन्न थे, क्योंकि इस काल के उपकरण अत्यन्त छोटे आकार के हो जाते हैं, जिन्हें लघु पाषाण उपकरण के नाम से जाना जाता है। इन लघु पाषाण उपकरणों की परम्परा का प्रारंभ उच्च पुरापाषाण काल के (blade), उद्योग परम्परा से हुआ माना जाता था। किन्तु इस काल के (blade) बलेड–फलक पहले की अपेक्षा आकार में सँकरे, पतले तथा छोटे होते थे, जिनकी लम्बाई कभी–कभी 1/4 इंच तक होती थी तथा अधिकतम 1 इंच से 1.5 इंच तक होती थी। इस काल के उपकरण लघुफलक पर बने होते थे, जिनकी भुजाएँ सामान्य फलको के स्थान पर समानान्तर होती हैं और लम्बाई, चौड़ाई की तुलना में कम से कम दोगुनी या उससे अधिक होती हैं। इस वर्ग के फलको की चौड़ाई 12 सेमी. से कम होती हैं इस काल के उपकरणो में दो वर्ग दिखाई देता है– 1. अज्यामितीय वर्ग 2. ज्यामितीय वर्ग

पहले वर्ग में अज्यामितीय उपकरण के अन्तर्गत पहले से चले आ रहे उपकरण एवं कोर, Flake, बाणाग्र, Scrapper इत्यादि थे तथा दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ज्यामितीय प्रकार के उपकरण प्राप्त होते हैं, जिसमें त्रिभुज, समलम्ब चतुर्भुज, लघु ब्यूरिन, छिद्रक इत्यादि मिलते हैं। इन उपकरणों के अलावा हड्डी पर बने

उपकरण भी इस काल में प्राप्त होते थे। इस काल के उपकरणो को बनाने के लिए 'चाल्सेडोनी, अगेट, चर्ट, जैस्पर इत्यादि अर्धरत्नीय पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। जब ये पाषाण अनुपलब्ध होते हैं, तो क्वार्टजाइट तथा क्वार्टज का प्रयोग भी किया जाता था।

इस काल के उपकरणो को 'संघात' उपकरण भी कहा जाता है, क्योंकि इस काल के उपकरण अत्यन्त छोटे होते थे, इसलिए इनको किसी माध्यम के ऊपर लगाकर के प्रयोग किया जाता था। इस काल के उपकरणों को बनाने में प्रेशर तकनीकी तथा पुर्नगढ़न विधि का प्रयोग किया जाता था।

7.5 शवाधान परम्पराः–

सर्वप्रथम शवो को दफनाने की परम्परा का प्रारंभ नियण्डरथल मानव ने प्रारंभ किया था, इसी परम्परा का प्रारम्भ मध्य पाषाणकालीन संस्कृति में भी दिखाई देता है। इस काल का मानव अपने मृतको को अपने आवास के समीप जमीन में दफना देता था और मृतको के साथ अन्तेष्टी सामाग्री के रूप में पाषाण उपकरण, अस्थि उपकरण तथा जानवरो की अस्थियो को भी रखते थे, जो कि इस कालीन मानव के जीवन में सदुपयोगी होते थे। भारत में जितने भी मध्य पाषाण कालीन स्थल अभी तक प्राप्त हुए हैं, उनमें कई जगह से शवाधान के साक्ष्य प्राप्त हुए है। इस काल के मानव की ऐसी मान्यता थी कि जो मृत मानव है, उनका पुनः जन्म होगा तो इन रखी हुई वस्तुओं का वो प्रयोग करेगा।

7.6 बीरभानपुर–

यह पुरास्थल पश्चिम बंगाल के बर्दवान जिले में स्थित है। इसकी खोज सन् 1954 के बी0बी0 लाल द्वारा की गई थी। सन् 1954 में बी0बी0 लाल ने भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की ओर से यहाँ पर सीमित पैमाने पर उत्खनन कराया। तत्पश्चात सन् 1957 में यहाँ पर बी0बी0 लाल की ही देख–रेख में अपेक्षाकृत विस्तृत पैमाने पर उत्खनन हुआ।

बीरभानपुर का मध्य पाषाणिक पुरास्थल एक वर्ग किमी से अधिक क्षेत्र में फैला हुआ हैं। यहाँ पर उत्खनन के लिये दो खन्तियाँ डाली गई थीं जिन्हें बीरभानपुर–1 तथा बीरभानपुर–2 नाम दिए गए। मध्यपाषाण काल के जमाव को पाँच स्तरों में विभाजित किया गया है(बी0बी0 लाल,1965),

ऊपरी सतह से लगभग 1 मीटर नीचे तक उपकरण मिलते हैं। बीरभानपुर के उत्खनन से बहुत अधिक संख्या में लघु पाषाण उपकरण नहीं मिले हैं। लगभग 68 प्रतिशत उपकरण क्वार्टजाइट नामक पाषाण पर बने हुए हैं, इसलिए बनावट की दृष्टि से बहुत सुन्दर नहीं है। क्वार्ट्ज के अतिरिक्त चर्ट, चाल्सेडनी, बेसाल्ट,

क्वार्टजाइट, क्रिस्टल तथा अश्मीभूत काष्ठ का उपयोग उपकरणों के निर्माण के लिए किया गया है। प्रमुख लघु पाषाण उपकरणों में ब्लेड, चान्द्रिक, बेधक, छिद्रक, बयूरिन, स्क्रेपर आदि हैं। एक समलम्ब चतुर्भुज बीरभानपुर में सतह से मिला है इसलिए बीरभानपुर के लघु पाषाण उपकरणों को प्रारम्भिक चरण से सम्बन्धित किया जा सकता है। बीरभानपुर के उत्खनन से प्राप्त मध्य पाषाण काल के पूर्व निर्मित–उपकरणों की वर्गीकृत सारणी अधोलिखित है(पाण्डेय, जे0एन0, 2008:288)।

बीरभानपुर के मध्य पाषाण काल की संस्कृति के तिथि–क्रम को निर्धारित करने के लिए कोई रेडियो कार्बन तिथि उपलब्ध नहीं है। यहाँ के उपकरण अज्यामितीय प्रकार के हैं। इनकी एक अन्य विशेषता यह है कि इन उपकरणों के साथ मिट्टी के बर्तन नहीं पाये गए हैं। दन्तुर–कटक ब्लेडों का भी अभाव है। उपर्युक्त को कम से कम 4000 ई0पू0 पुराना बतलाया है।

सारणीः बीरभानपुर के मध्य पाषाणिक उपकरण

नाम उपकरण	संख्या	प्रतिशत
ब्लेड	106	37.5
चान्द्रिक	42	14.8
बेधक	60	21.2
छिद्रक	19	6.6
ब्यूरिन	12	4.2
स्क्रेपर	43	15.3
योग	282	99.6

उड़ीसा में सुन्दरगढ़, धेनकनाल, पुरी, क्योंझर तथा मयूरगंज जिलों के अनेक पुरास्थलों से मध्य पाषाण काल के लघु पाषाण उपकरण प्राप्त हुए हैं। सुन्दरगढ़ जिले के उल्लेखनीय पुरास्थलों में बालू डूँगरी, बाणगढ़, खूँटागाँव और कुरहडी प्रमुख हैं। क्योंझर जिले में पटना, मयूरगंज में विसई, रायरंगपुर, बोडरा तथा कुचाई आदि प्रमुख पुरास्थल हैं। इन में से मयूरगंज जिले में स्थित कुचाई का उत्खनन भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की ओर से बी0के0 थापर ने 1961–62 में कराया था। यहाँ के निचले स्तरों से मध्य पाषाण काल के उपकरण प्राप्त हुए हैं। ऊपरी स्तरों से नव पाषाण काल के उपकरण तथा भूरे रंग के हस्त–निर्मित मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े मिले हैं।

7.6 मोरहना पहाड़ :–

इस पुरास्थल की खोज सर्वप्रथम 1867 ई0 में ए0 सी0 एल0 कार्लाइल के द्वारा किया गया। बाद में 1962–63 ई0 में आर0 के0 वर्मा के द्वारा यहाँ पर कार्य करवाया गया तथा इस पुरास्थल के महत्व को उद्घाटित किया गया। शिलाश्रय संख्या एक के बाहर तथा शिलाश्रय संख्या चार के अन्दर उत्खनन का कार्य करवाया गया, परिणामस्वरुप शिलाश्रय संख्या 4 से 55 सेमी0 का तथा शिलाश्रय संख्या 1 से 1.15 मीटर का मोटा जमाव प्राप्त हुआ है, जिसे 6 विभिन्न कालो में बाँटा गया है। इनमें से 5 स्तरो से मध्य पाषाणिक लघु पाषाण उपकरण प्राप्त हुए हैं जबकि छठवाँ स्तर आधारशिला का है। जहाँ से किसी प्रकार के अवशेष नहीं मिले हैं। यहाँ से प्राप्त लघु पाषाण उपकरण (ज्यामितिक और अज्यामितिक दोनों प्रकार के) और मृदभांड प्रमुख है। प्राप्त लघु पाषाण उपकरणों में 5वें स्तर से अज्यामितीक प्रकार के ब्लेड, चांद्रिक (Lunate), बेघक (borer), छोलनी (Scrapper) आदि हैं। चौथे तथा तीसरे स्तरो से ज्यामितिक तथा अज्यामितिक दोनो प्रकार के लघु पाषाण उपकरण प्राप्त होते है। प्राप्त ज्यामितीय उपकरणो में त्रिभुज, समानान्तर पार्श्व वाले ब्लेड, समलम्ब चतुर्भुज (Trapeze) इत्यादि है। मृदभांड के टुकड़े अत्यन्त भंगुर अवस्था में चतुर्थ स्तर से ही मिलने लगते है। लेकिन इसके बाद के स्तरो से अत्यधिक संख्या में हस्तनिर्मित मृदभाण्ड मिलने लगते है, जो अत्यन्त भंगुर (जो जल्दी टूट जाए) तथा गेरु रंग के थे।

7.8 सराय–नाहर–राय (आई0ए0आर0 1971–72 : 48–49)

सरायनाहर राय (अक्षांश $25^0$48'उ0 देशान्तर $81^0$50' पू0) मध्य गंगा मैदान की मध्यपाषाणिक बस्ती का सर्वप्रथम खोजा गया स्थल है, जो गोखुर झील के किनारे स्थित है।यह स्थल प्रतापगढ़ जनपद के मुख्यालय से 15 किमी दक्षिण–पश्चिम दिशा में स्थित है (मानचित्र 3)। सन् 1970 ई0 में उत्तर प्रदेश के पुरातत्त्व विभाग ने भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के पी0सी0 दत्त के सहयोग से एक मानव कंकाल का उत्खनन कराया था। तत्पश्चात् इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग ने उत्तर प्रदेश शासन के वित्तीय सहयोग से सन् 1971–72 तथा 1972–73 ई0 में अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर सरायनाहर राय का उत्खनन स्वर्गीय जी0आर0 शर्मा के निर्देशन में आर0के0 वर्मा, वी0डी0 मिश्र और धनेश मण्डल ने करवाया था (शर्मा, 1973: 134–146)।

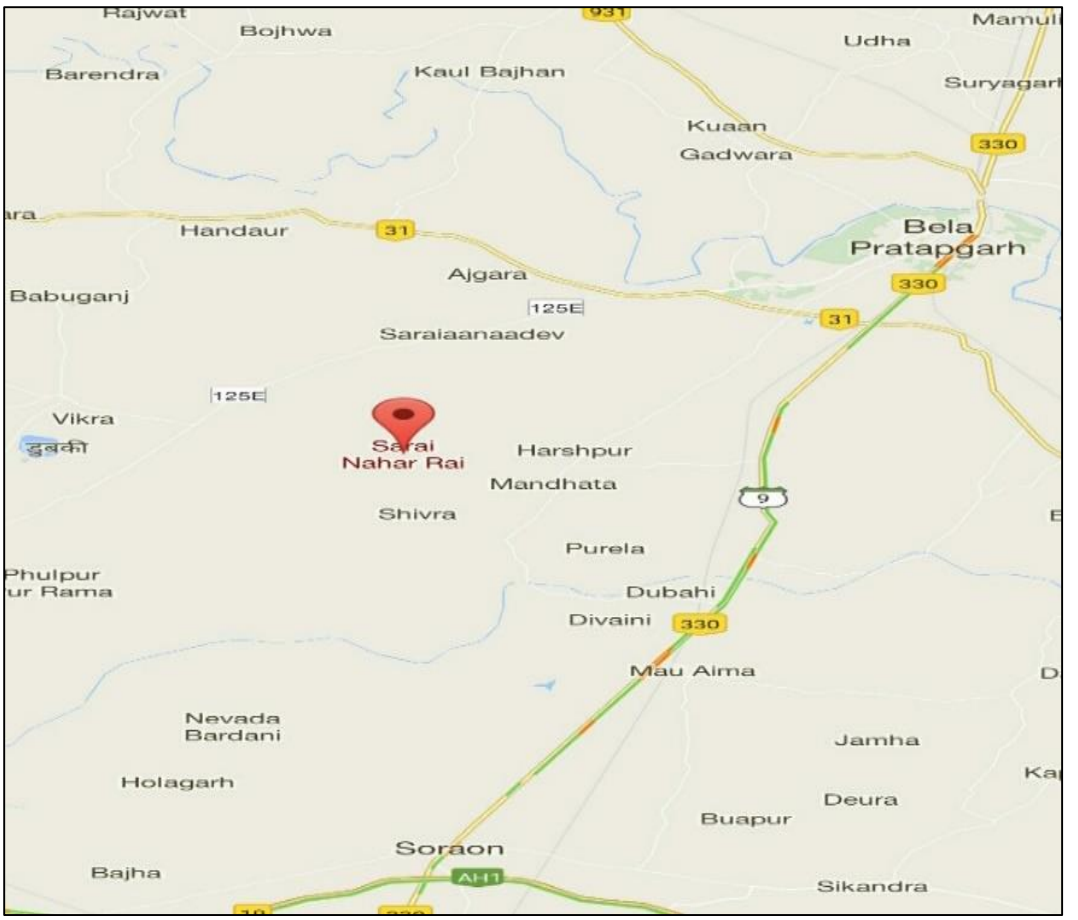

मानचित्र 3: सरायनाहर राय पुरास्थल की मानचित्र में स्थिति

यह पुरास्थल लगभग 1800 वर्ग मीटर के क्षेत्र में फैला हुआ है। सम्पूर्ण क्षेत्र में लघुपाषाण उपकरण तथा जानवरों की हड्डियाँ बिखरी हुई थीं। पानी के बहाव के फलस्वरूप ऊपरी सतह के कट जाने के कारण मानव कंकाल स्पष्ट रूप से दिख रहे थे। मध्य पाषाणिक मानव ने इस क्षेत्र का उपयोग आवास– स्थल और शव–स्थल के रूप में किया था।

उल्लेखनीय है कि शवस्थल इस क्षेत्र के उत्तरी पूर्वी भाग में सीमित था। दक्षिण–पश्चिम भाग में चूल्हे तथा एक फर्श का प्रमाण उपलब्ध हुआ था। यहाँ से कुल 11 मानव समाधियों तथा आठ गर्त–चूल्हों का उत्खनन इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा किया गया था (वर्मा, 2001 : 115–116)। इस तरह एक मानव शवाधान का पी0सी0 दत्त द्वारा तथा 11 मानव शवाधान का इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा उत्खनन कराया गया। इस प्रकार कुल 12 समाधियों से 15 मानव कंकाल प्रकाश में आये (कनेडी और अन्य, 1986 : 1–55)। एक समाधि में एक साथ चार कंकाल दफनाये गये थे। इन कंकालों का प्रथम अध्ययन पी0सी0 दत्त ने किया था (दत्त, 1973 : 249–253 दत्त और पाल, 1972 : 334–335; दत्त और अन्य, 1971 : 15–28; दत्त, 1984 : 35–50)। इसके बाद इसका विस्तृत

भौतिक नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन केनेडी ने किया है (केनेडी. 1996: 291–331; केनेडी और एलगार्ट. 1998:9–30)।

सराय नाहर राय से प्राप्त शवधानों के उत्खनन से मध्यपाषाणिक मानव प्रकार तथा उसके कर्मकाण्डों एवं मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। समाधियाँ प्रायः आवास क्षेत्र के अन्दर बनी थी। कब्रें छिछली तथा अण्डाकार हैं।

शव को समाधि में रखने के पहले सिरहाने के रूप में 3–4 से0मी0 मोटी मिट्टी की पर्त देकर मृतको को पश्चिम–पूर्व दिशा में चित लिटाकर विस्तीर्ण रूप से दफनाया गया था। प्रायः सभी कंकालों का एक हाथ शरीर के समानान्तर तथा दूसरा हाथ पेट के ऊपर रखकर दफनाने की प्रथा पायी गयी। पुरुषों के कंकाल में दाहिना हाथ (चित्र संख्याः 18) तथा स्त्रियों के कंकाल में बायाँ हाथ पेट के ऊपर रखा हुआ मिला था।

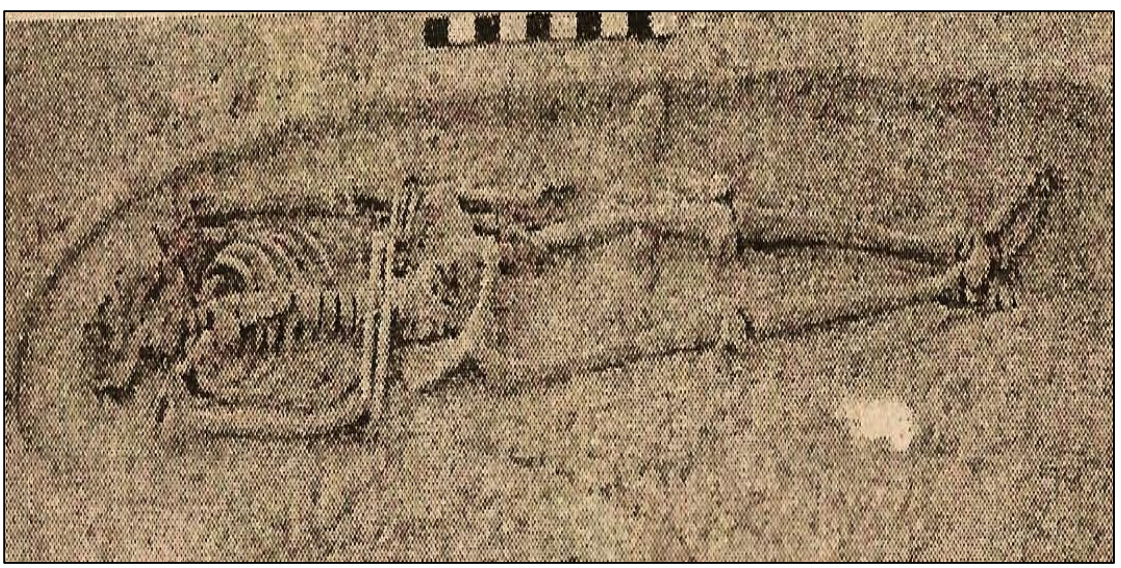

चित्र संख्या 18: सरायनाहर राय– पेट पर हाथ रखा हुआ पुरुष कंकाल

उत्खनित 12 समाधियों में से 11 में एक–एक मानव कंकाल दफनाये हुए मिले तथा एक समाधि में चार मानव कंकाल एक साथ दफनाये हुए मिले हैं (चित्रसंख्याः 19)। मृत्योपरान्त दूसरे जीवन में भी लोग आस्था रखते थे, इसलिए कब्रों में लघु पाषाण उपकरण, जानवरों की हड्डियाँ तथा घोंघे आदि मृतकों को भेट के रूप में रखे हुए प्राप्त हुए हैं। कब्रों को ढ़कते समय चूल्हों की राख भी प्रयुक्त होती थी। जिस कब्र में चार शव एक ही साथ दफनाये हुए मिले उसमें पहले एक पुरुष और एक नारी के कंकाल रखे हुए थे तथा उसके ऊपर पुनः एक पुरुष और नारी के कंकाल रखे हुए मिले हैं। उल्लेखनीय है कि मध्य पाषाण काल की इस कब्र में नारियाँ पुरुषों के बायी ओर रखी गयी थीं। क्या ये पति–पत्नी थे? ये एक साथ क्यों दफनाये गये थे आदि अनिर्णीत महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। अगर वर्तमान परिप्रेक्ष्य

को ध्यान में रखकर कहा जाय तो पति–पत्नी होने की सम्भावना प्रबल लगती है, क्योंकि वर्तमान समय में भी पत्नी को अपने पति के बायीं ओर रहने का प्रचलन हैः पत्नी को वामांगी भी कहा जाता है।

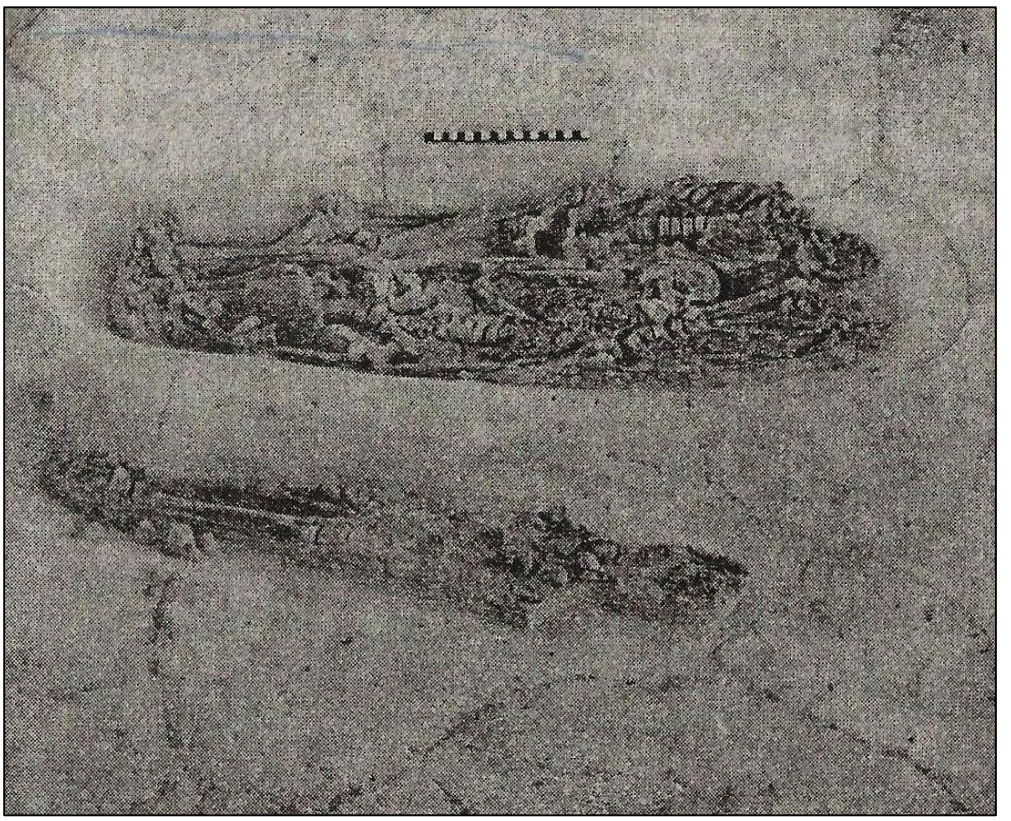

चित्र संख्या 19ः सरायनाहर राय – संयुक्त रूप से समाधिस्थ चार मानव कंकाल

ऐसा भी हो सकता है कि एक स्त्री और एक पुरुष का शव रखने के बाद पुनः पुरुष के ऊपर एक अन्य पुरुष तथा स्त्री के ऊपर दूसरी स्त्री का शव रखकर दफनाया गया हो। इनको खुदाई से निकली मिट्टी चूल्हों की मिट्टी एवं राख से भरा गया था। अन्त्येष्टि सामग्री के रूप में केवल लघु पाषाण उपकरण मिले थे। कंकालों के साथ जो बड़े–बड़े कंकड़ मिले थे, उन्हें प्रारम्भ में भ्रमवश घोंघा समझ लिया गया था। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के पी0सी0 दत्ता ने अपने निबन्धों में हस्त–निर्मित कुण्डलित मृद्भाण्ड के रूप में इनका उल्लेख किया है (दत्ता, 1984 : 35–50)। वस्तुतः मध्य गंगा मैदान के अब तक उत्खनित किसी भी मध्य–पाषाणिक पुरास्थल से मृद्भाण्डों के अवशेष अभी तक नहीं प्राप्त हुए हैं (दुबे, 2005 : 74)।

इस पुरास्थल से प्राप्त 15 मानव कंकालों में से 10 मानव कंकालों के लिंग की पहचान की जा चुकी है जिनमें सात कंकाल पुरुषों के तथा तीन कंकाल स्त्रियों के थे। सराय नाहर राय से बच्चों के कंकाल की प्राप्ति नहीं हुई है, यद्यपि अवयस्क कंकालों की प्राप्ति हुई है (कनेडी, 1986 : 23)। जे0एन0 पाण्डेय और ए0के0 दुबे ने

अपनी पुस्तक में सराय नाहर राय से प्राप्त 15 कंकालों में से 11 कंकालों के पहचान की बात की है जिनमें 7 पुरुष तथा 4 स्त्री के कंकाल हैं तथा 4 मानव कंकाल की पहचान नहीं हो पायी है।

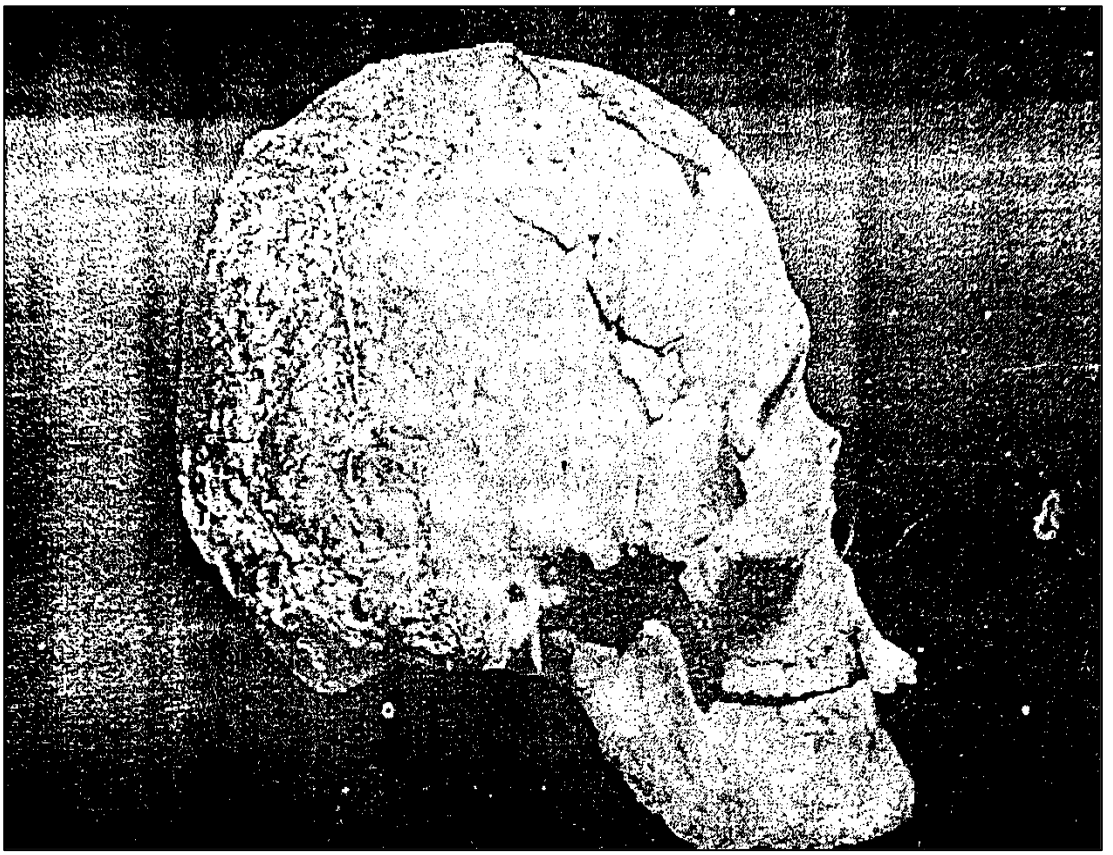

चित्र संख्या 20: सरायनाहर राय से प्राप्त खोपड़ी (कनेडी व अन्य, 1986)

इन कंकालों के उम्र की गणना के लिए कंकाल की खोपड़ी (चित्र संख्याः 20) का प्रयोग किया गया है। यहाँ से जो पुरुष मानव कंकाल प्राप्त हुए हैं, उनकी आयु मृत्यु के समय 16 से 34 वर्ष के बीच आँकी गयी है तथा औसत आयु 17 से 31 वर्ष निर्धारित की गयी है स्त्री कंकालों के आधार पर स्त्रियों की आयु मृत्यु के समय 15 से 35 वर्ष के बीच आंकी गई है। स्त्रियों की आयु का औसत 16 से 32.5 वर्ष के बीच आंका गया है (कनेडी, 1986 : 23)। यहाँ से प्राप्त कंकालों की लम्बाई की गणना दत्ता एवं उनके साथियों के द्वारा की गयी है। पुरुष कंकालों की औसत लम्बाई 173.93 से 192.08 से0मी0 के मध्य निर्धारित की गयी है तथा स्त्री कंकालों की औसत लम्बाई 174.89 से0मी0 से 187.68 से0मी0 के बीच आंकी गयी है (दत्त एवं पाल, 1972 : 334–335)। ट्रोटर महोदय के द्वारा भी मानव कंकाल के डील–डौल या कद की गणना की गयी। इनके द्वारा मानव की फीमर नामक हड्डी पर गणना की गयी और जो औसत लम्बाई पुरुष मानव कंकाल की अपनी तालिका

में इन्होंने दी है वह 175.65 से 183.26 से0मी0 के बीच है। इनके द्वारा स्त्री कंकालों के फिमोरा की माप नहीं की गई है (ट्रोटर, 1970 : 71 : 83)। सराय नाहर राय से प्राप्त मानव कंकालों के आधार पर जी0आर0 शर्मा द्वारा स्त्री और पुरुष दोनों को लम्बे कद वाला बताया गया है (शर्मा, 1978: 20–26)।

सराय नाहर राय से आठ गर्त–चूल्हों की प्राप्ति हुई है जिसका उत्खनन कार्य भी किया गया है। ये गोलाकार, अण्डाकार तथा अनियमित आकार के हैं। गर्त–चूल्हों का मुख भाग चौड़ा तथा पेंदी का भाग संकरा है। चूल्हे के ऊपरी भाग की माप 1.49 मीटर से 72 से0मी0 है, तथा पेदी 1.02 मीटर से 45 से0मी0 चौड़ी है। इन गर्त चूल्हों की गहराई .25 मीटर से लेकर .10 मीटर तक है। इन्हें खोदने के लिए सींग अथवा कड़ी लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। कुछ चूल्हों का एक से अधिक बार प्रयोग करने के प्रमाण मिलते हैं। सार्वजनिक चूल्हों को भी दो बार प्रयोग में लाने के प्रमाण मिले हैं (वर्मा एवं नीरा, 2001 : 116)। गर्त–चूल्हों से गाय, भैंस, बैल, भेड़, बकरी आदि की जली–अधजली हड्डियाँ मिली हैं। इसके अतिरिक्त कछुआ की खोपड़ी के टुकड़े तथा हाथी की पसली प्राप्त हुई है। के0 आर0 आलूर ने सराय नाहर राय से प्राप्त बकरी और भेड़ की हड्डियों की पहचान की है (आलूर, 1980, 2008), लेकिन थॉमस और पी0पी0 जोगलेकर के अनुसार ये हड्डियाँ हिरणों की है। इन्हें किसी पालतु पशु के अवशेष नहीं मिले हैं (थामस एवं अन्य, 1996 : 255–266)। गर्त–चूल्हों का उपयोग सम्भवतः पशुओं का माँस भूनने के लिए होता था। इन चूल्हों में केवल राख मिली है, कोयले के टुकड़े नहीं मिले हैं। इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः घाँस–फूस आदि का उपयोग ही ईधन के लिए किया जाता था। अत्यधिक संख्या में जंगली पशुओं की हड्डियों का मिलना शिकार की ओर संकेत करता है। कछुए के हड्डियों की प्राप्ति इस बात का प्रमाण है कि झील भी लोगों की खाद्य सामग्री प्राप्ति का एक श्रोत था (साहू, 1988: 97–98)। आवास क्षेत्र से 5X4 मीटर आकार का एक फर्श मिला है जिसके चारो कोनों पर एक–एक स्तम्भ–गर्त मिले हैं। जी0आर0 शर्मा ने इसको सामुदायिक झोपड़ी की संज्ञा दी है, क्योंकि इसके फर्श से लघु पाषाण उपकरण, पशुओं की हड्डियाँ तथा कई छोटे–छोटे चूल्हे भी मिले हैं (पाण्डेय, 2008: 309)।

सराय नाहर राय पुरास्थल से लघुपाषाण उपकरण निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त हुए हैं। उपकरण निर्माण के लिए चाल्सीडनी, चर्ट, जैस्पर और कार्नेलियन जैसे पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। यहाँ से जो उपकरण प्राप्त हुए हैं उनमें कई तरह के ब्लेड, समानान्तर बाहु और भूथडे ब्लेड, अर्द्ध चन्द्र, विषमबाहु और समाद्विबाहु त्रिभुज, खुरचनी, नोक, चान्द्रिक, तक्षणी इत्यादि उपकरण है (चित्र संख्याः 21)

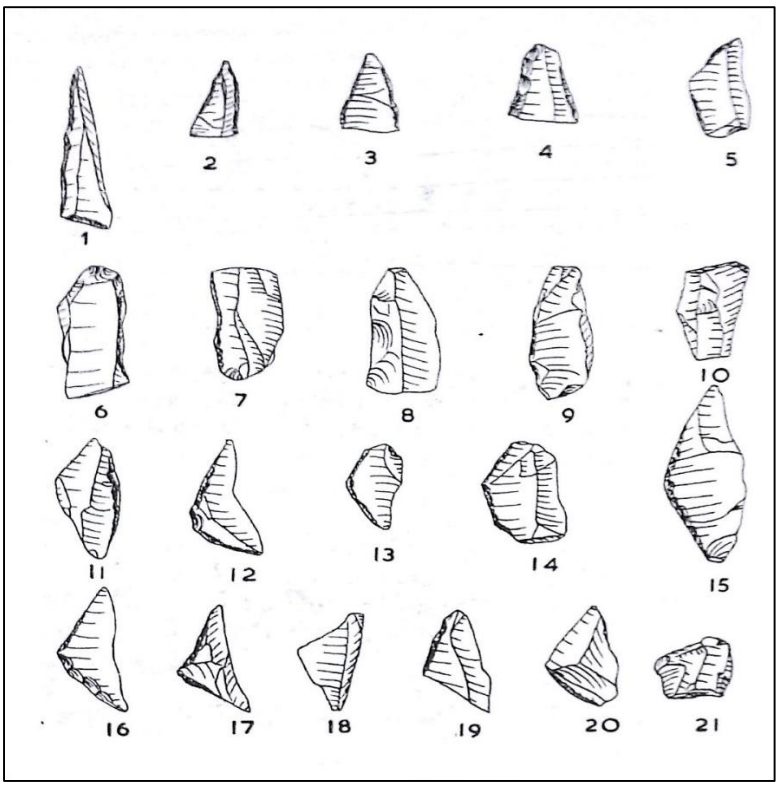

चित्र संख्या 21: सराय नाहर राय से प्राप्त लघुपाषाण उपकरणों का रेखाचित्र

जानवरों की हड्डियों पर बने उपकरण यहाँ से ज्यादा नहीं मिले हैं, लेकिन पशुओं की नुकीली हड्डियों तथा श्रृंगों को उपकरण की तरह प्रयोग किया जाता था। कुछ हड्डियों पर भौंड़ी तराश के प्रमाण मिलते हैं। सामान्य रूप से प्राकृतिक हड्डियों के प्रयोग की ही प्रथा थी, क्योंकि अधिकांश तराश के बावजूद हड्डियों पर बने अच्छे अस्त्रों का अभाव था। इस दृष्टि से पाषाण उपकरणों का समूह विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण दिखाई पड़ता है (जायसवाल. 1989 : 51)। एक 13.2 से.मी. लम्बे तथा 3 से0मी0 चौड़े हड्डी के बने हुए ब्लेड का भी उल्लेख किया जा सकता है जिस पर फलकीकरण से तेज धार बनाई गयी है। कुछ लघु पाषाण उपकरणों का प्रयोग बाणाग्र के रूप में युद्ध के दौरान किया गया था। एक कंकाल में पसली की हड्डी को वेधता हुआ एक शर मिला था। इसके अतिरिक्त कुछ और भी उपकरण ऐसी स्थिति में मिले थे जिससे अनुमान किया जाता है कि वे तीर में लगाकर प्रयोग में लाये गये होगे (वर्मा एवं वर्मा. 2001 : 117–118)

7.9 बागोर (अक्षांश 250,27'उ., देशान्तर 740, 23' पू.)

पूर्वी राजस्थान के अभी तक ज्ञात मध्य पाषाणिक पुरास्थलों में सबसे महत्त्वपूर्ण बागोर पुरास्थल है, जो बनास नदी की सहायक कोठारी नदी के बायें तट पर भीलवाड़ा से पश्चिम दिशा में 25 किमी की दूरी पर भीलवाड़ा जिले में स्थित है। बागोर के लगभग 7 मीटर ऊँचे वायुजनित निक्षेप से निर्मित रेतीले टीलें को स्थनीय

लोग 'महासती' कहते हैं। यह टीला पूर्व से पश्चिम 200 मीटर लम्बा और उत्तर से दक्षिण 150 मीटर चौड़ा है। बागोर नामक गाँव से एक किमी पूर्व दिशा में स्थित इस पुरास्थल की खोज सन् 1967 में दकन कालेज, पूणे के वी.एन. मिश्र एवं साउथ एशिया इंस्टीट्यूट, हीडलबर्ग जर्मनी के एल. एस. लेश्निक ने की थी(मिश्रा, वी0 एन0, 1973,12–80) । सन् 1968 से 1970 के मध्य पूना विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग तथा राजस्थान के पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में वी. एन. मिश्र के निर्देशन में इस पुरास्थल का उत्खनन किया गया। पाँच स्तरों वाले 1.50 मीटर से 1.75 मीटर मोटे जमाव को प्रारम्भ में तीन सांस्कृतिक कालों में विभाजित किया गया था और ऐसी संभावना प्रकट की गई थी कि यहाँ पर वस्तुतः एक ही आधारभूत संस्कृति का उदय हुआ जिसमें जैसे–जैसे समय व्यतीत होता गया, वैसे–वैसे नवीन सांस्कृतिक उपादन जुड़ते गए।

किन्तु बाद में इस काल विभाजन की नये सिरे से समीक्षा की गई जिसके आधार पर विभिन्न सांस्कृतिक कालों के विभाजन में संशोधन किया गया। अब यह स्वीकार किया जाता है कि बागोर में दो सांस्कृतिक कालों : 1. **मध्य पाषाण काल** और 2. **लौह काल** के पुरावशेष मिले हैं। दोनों के मध्य समय का लम्बा अंतराल रहा होगा। प्रथम सांस्कृतिक काल को पुनः **दो उपकालों** में विभाजित किया गया है।**प्रथम उपकाल** : बागोर के प्रथम उपकाल का जमाव 50 सेमी से 80 सेमी के बीच मिला है। इस उपकाल के स्तरों से बहुसंख्यक लघु पाषाण उपकरण तथा पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं। अधिकांश लघुपाषाण उपकरण ब्लेड पर बने है। क्रोड तथा फलक पर बने हुए स्क्रेपर तथा ब्यूरिन अत्यल्प है। इस प्रकार बागोर के प्रथम उपकाल के मध्य पाषाणिक उपकरणों को मृद्भाण्ड पूर्व के ज्मामितीय चरण से सम्बन्धित किया जा सकता है। पत्थर के हथौड़े, सिल– लोढ़े आदि यहाँ से प्राप्त अन्य पाषाणिक पुरावशेष हैं(मिश्रा, वी0 एन0, 1973,12–80)।

बागोर के प्रथम उपकाल से चीतल, सांभर, चिंकारा आदि हिरणों, खरगोश, लोमड़ी, भेड़–बकरी, सुअर, गाय–बैल तथा भैंस आदि पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं। इनमें से जंगली तथा पालतू दोनों ही प्रकार के पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं। नेवला, कछुआ तथा मछली की हड्डियों के अवशेष भी प्राप्त हुए है। इस प्रकार प्रथम उपकाल के लोगों का आर्थिक जीवन जंगली पशुओं के शिकार तथा पशु–पालन पर आधारित प्रतीत होता है।

प्रथम उपकाल के लोग रहने के लिए जो झोपड़ियाँ बनाते थे उनके फर्श का निर्माण पत्थर के छोटे–छोटे टुकड़ों से करते थे। ऐसी संभावना है कि झोपड़ियाँ बाँस–बल्ली तथा घास–फूस से बनाई जाती थीं। इस उपकाल से एक मानव–कंकाल प्राप्त हुआ है जिसे पश्चिम–पूर्व दिशा में, सिर पश्चिम की ओर

करके चित लिटा कर आवास–क्षेत्र के अन्दर ही दफनाया गया था। यह कंकाल 17–19 वर्ष की आयु वाली महिला का है।

बागोर के द्वितीय उपकाल का सांस्कृतिक जमाव 30 सेमी से 50 सेमी के बीच में मिला है। इसको प्रथम उपकाल के ही सातत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि लघु पाषाण उपकरण इस उप काल में भी चलते रहे किन्तु उनकी संख्या में उत्तरोत्तर कमी दृष्टिगोचर होती है। पशुओं की जो हड्डियाँ मिली हैं, उनमें से कुछ जंगली पशुओं की और कुछ पालतू पशुओं की हैं। भेड़–बकरी तथा गाय–बैल प्रमुख पालतु पशु थे। इन लोगों का जीवन आखेट एवं पशु–पालन पर आश्रित था। इस उपकाल में उत्कीर्ण अलंकरण से युक्त हस्त– निर्मित मृद्भाण्ड तथा ताम्र–उपकरण प्रचलित हो गए थे। द्वितीय उपकाल में संभवतः मेवाड़ तथा मालवा की ताम्र'–पाषाणिक संस्कृतियों के सम्पर्क में बागोर के लोग आए। ताम्र उपकरणों में एक भाला तथा तीन बाण उल्लेखनीय है। द्वितीय उपकाल के लोग भी घास–फूस की बनी हुई झोपड़ियों के फर्श पत्थर के छोटे–छोटे टुकड़ों से निर्मित थे। झोपड़ियों के फर्श पर पत्थर के हथौड़े, सिल–लोढ़े, गोलियाँ तथा गदाशीर्ष प्राप्त हुए है(पाण्डेय, जे0एन0, 2008:276)।

द्वितीय उपकाल से तीन मानव–कंकाल मिले हैं, जिन्हें पूर्व–पश्चिम दिशा में मुड़ी हुई अवस्था में लिटा कर आवास–क्षेत्र के अन्दर ही दफनाया गया था। द्वितीय उपकाल में मृतकों को दफनाने के लिए भिन्न दिशा का चयन किया गया था। हस्त–निर्मित मिट्टी के बर्तन, धातु के उपकरण, आभूषण तथा पशुओं की हड्डियाँ अन्त्येष्टि सामग्री के रूप में रखी गई थी। एक से लेकर आठ तक मिट्टी के बर्तन रखे हुऐ मिले हैं जिनमें संभवतः खाद्य–पदार्थ भर कर अर्पित किये गए थे। द्वितीय काल के दो शवाधानों से पाँच ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक भाला तीन बाण तथा एक तकुआनुमा ताँबे की छड़ है। ताँबे के बने हुए तीनों बाण त्रिभुजाकार है तथा प्रत्येक के आधार के ऊपर दो समानान्तर छेद है। एक मानव कंकाल के गले में 36गुरियों की बनी हुई एक माला पड़ी हुई मिली है, जिसकी अधिकांश गुरियाँ पत्थर की तथा कतिपय हड्डी की बनी हुई है। तीन कंकालों में से एक लगभग 7–8 वर्ष के बच्चे का था। शेष दो कंकाल वयस्कों के थे, जिनमें से एक स्त्री तथा एक पुरुष का था

द्वितीय उपकाल में संभवतः कृषि तथा पशु–पालन का बागोर में प्रचलन हो गया था। लघु पाषाण उपकरणों के साथ ही ताँबे के बने हुए उपकरण प्रयुक्त होने लगे थे। इन उपर्युक्त बातों को देखते हुए इस उपकाल को मध्य पाषाणिक की अपेक्षा ताम्रपाषाणिक कहना अधिक तर्क–संगत प्रतीत होता है।

बागोर के द्वितीय काल को प्रारम्भ मे तृतीय काल कहा गया था। द्वितीय

सांस्कृतिक काल तथा प्रथम काल के बीच में समय का लम्बा अन्तराल था। ऐसा संभव है कि प्रथम काल के बाद यह पुरास्थल उजड़ गया हो। इसके बाद पुनः कभी यहाँ पर लोग आ कर रहने लगे। द्वितीय सांस्कृतिक काल में आवास–क्षेत्र बागोर के मध्यवर्ती भाग तक ही सीमित था। इस काल का जमाव 35 सेमी से 75 सेमी के बीच मिला है। इस काल से लघु पाषाण उपकरण तथा पशुओं की हड्डियाँ बहुत कम संख्या में मिलती है। इस काल के मृद्भाण्ड पूर्णतः चाक–निर्मित है। लौह–उपकरण, काँच के मनके तथा ईंटों से बनी हुई संरचनाएं इस काल की अन्य प्रमुख विशेषताएँ हैं(पाण्डेय, जे0एन0, 2008:277)।

इस काल से एक ऐसा मानव–कंकाल मिला है जिसे उत्तर–दक्षिणा दिशा में चित लिटाकर दफनाया गया था। यह कंकाल 40–42 वर्ष की किसी महिला का है। इस कंकाल के मेरुदण्ड के सातवें ग्रीवा कशेरुक में हरे रंग एक धब्बा था जो किसी धातु के पुरावशेष के सर्म्पक का परिणाम था। इसको रासायनिक परीक्षण के लिए एम. एस. विश्वविद्यालय बड़ौदा के के.टी.एम. हेगड़े के पास भेजा गया। कंकाल की गर्दन में चिपके हुए धातु के उस टुकड़े की सफाई करने पर यह ज्ञात हुआ कि वह मुस्लिम–काल का एक सिक्का है। यह सिक्का कंकाल में जिस स्थिति में चिपका हुआ था, उससे इस बात की संभावना बहुत कम है कि यह ऊपर से बाद में प्रविष्ट हो गया हो। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि यह ऊपर से बाद में प्रविष्ट हो गया हो। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि मध्य पाषाण काल के द्वितीय उपकाल के बाद यह पुरास्थल निर्जन हो गया और मध्य काल में यहाँ पर लोग पुनः आ कर बस गये हो।

बागोर के प्रथम काल के दोनों उपकालों की तिथि–निर्धारण के लिए रेडियो कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं। पाँच में से 3 तिथियाँ प्रथम उपकाल तथा 2 तिथियाँ द्वितीय उपकाल से सम्बन्धित हैं। ये सभी तिथियाँ हड्डियों के नमूनों पर आधारित हैं। प्रत्येक नमूने की दो तिथियाँ टाटा इंस्टीट्यूट आफ फण्डामेन्टल रिसर्च द्वारा निकाली गई है। प्रथम तिथि की गणना 5,568±30 तथा कोष्ठक में अंकित द्वितीय तिथि की गणना 5,730±40 वर्ष रेडियों कार्बन के अर्द्ध–जीवन के समयमान पर आधारित हैः

टी.एफ. 786:6,245±206 (6,430±206),

टी.एफ. 1007:5,620±129 (5,785±129),

टी.एफ. 1011/12:5,245±88 (5,325±88),

टी.एफ. 1009:4,585±108 (4,715±108),

टी.एफ. 1005/6:4065±93 (4,060±93),

उपर्युक्त सभी पाँचों तिथियाँ आज से (B.P.) पूर्व' में है तथा असंशोधित है। प्रथम उपकाल से सम्बन्धित तिथियाँ मध्यवर्ती स्तरों से सम्बन्धित हैं इसलिए सबसे निचला स्तर इस आधार पर, कुछ अधिक प्राचीन माने जा सकते है। अतः प्रथम उपकाल का समय 5000ई.पू. से 2,800 ई.पू. के बीच में तथा द्वितीय उपकाल का समय 2,800 ई.पू. से 600 ई.पू. के बीच में निर्धारित किया गया है। द्वितीय काल का समय प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर 400 ई. के मध्य निश्चित किया गया है क्योंकि इस काल से मौर्य तथा कुषाण काल के मिट्टी के बर्तनों से मिलते–जुलते बर्तन मिले है। किन्तु मध्य काल के एक सिक्के के मिल जाने से अब इसका समय मध्य–काल माना जा सकता है।

7.10 लंघनाज

(अक्षांश 23^0, 27' उ0, देशान्तर $74^0$32' पू0) गुजरात का बहुचर्चित मध्य पाषाणिक पुरास्थल है जिसकी खोज भारतीय प्रागैतिहासिक अभियान दल ने सन् 1941 में की थी (संकालिया, एच0डी0, 1974)। सन् 1942 से सन् 1963 के बीच दकन कालेज, पुणे तथा एम.एस. विश्वविद्यालय बड़ौदा ने, समय–समय पर लंघनाज का कुल मिलाकर सात बार उत्खनन कराया। एच.डी. सांकलिया के अतिरिक्त बी. सुब्बाराव तथा के. ए. आर. केनेडी ने यहाँ पर उत्खनन का संचालन किया। बालू के टीले पर स्थित होने के कारण इसके स्तरों का क्रम सुनिश्चित करना अपने आप में एक कठिन समस्या है। लंघनाज में 1 मीटर से लेकर 2.50 मीटर तक मोटा सांस्कृतिक जमाव मिला है, जिसे तीन उपकालों में विभाजित किया गया है।

प्रथम उपकाल से पशुओं की हड्डियाँ तथा मानव शवाधान एवं यदा–कदा मृदभाण्ड प्राप्त हुए हैं। लघु पाषाण उपकरण 90 से0मी0 से 1.50 मीटर के जमाव में ही विशेष रूप से मिलते हैं। द्वितीय उपकाल से भी लघु पाषाण उपकरण, पशुओं की हड्डियाँ आदि बहुसंख्या में प्राप्त हुई हैं। क्वार्टजाइट पत्थर पर निर्मित एक गदा शीर्ष तथा नव पाषाणिक दो कुल्हाडियाँ एवं एक प्रस्तर हथौड़ा द्वितीय उपकाल से प्राप्त उल्लेखनीय पुरावशेष हैं। द्वितीय उपकाल के सबसे ऊपरी स्तर से ताँबे का चाकू मिला है। मिट्टी के बर्तन ठीक से पके न होने के कारण अत्यन्त भंगुर हैं। तीसरे उपकाल के सबसें ऊपरी स्तर से ताँबे का चाकू मिला है। इस काल में भी मिट्टी के बर्तन ठीक से पके न होने के कारण अत्यन्त भंगुर है। तीसरे उपकाल में मिट्टी के बर्तनों की संख्या बढ़ जाती है। एक लौह बाण, प्रस्तर की एक गुरिया तथा सिल का एक टुकड़ा तृतीय उपकाल से मिले हैं(पाण्डेय, जे0एन0, 2008:280)।

सारणी 2

लंघनाज के मध्य पाषाणिक उपकरण

उपकरण का नाम	संख्या	प्रतिशत
क्रोड	70	5.21
क्रोड–कतरन–फलक	30	1.53
फलक	1,117	85.90
ब्लेड	59	4.67
कुण्ठित ब्लेड	5	0.38
चन्द्रिक	13	1.00
त्रिभुज	3	0.0023
समलम्ब चतुर्भुज	1	0.00107
खुरचनी (स्क्रेपर)	2	0.00215
बेधक	1	0.00107
अवपाती फलक	9	0.69
योग	**13.00**	**98.48659**

लंघनाज के उत्खन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य पाषाणिक उपकरण मुख्यतः इसके प्रथम उपकाल से प्राप्त हुए हैं। उपकरणों का निर्माण प्रधानतः चर्ट, क्वार्टज, कार्नेलियन तथा अगेट पर किया गया है। कुण्ठित पार्श्व वाले ब्लेड, तिभुज, चान्द्रिक, स्क्रेपर आदि प्रमुख उपकरण हैं। लंघनाज के लघु पाषाण उपकरणों में सबसे अधिक संख्या फलकों (1,117) की है।लंघनाज के उत्खनन से प्राप्त मध्य पाषणिक उपकरणों की कुल संख्या 1300 है (सारणी–2)।

लंघनाज के पुरास्थल पर उपकरण निर्माण के लिए पाषाण उपलब्ध नहीं थे, इसलिए ऐसी संभावना प्रकट की गई है कि उपकरण निर्माण की सामग्री कहीं बाहर से लाई जाती रही होगी। लघु पाषाण उपकरणों के अतिरिक्त जो अन्य पाषाण उपकरण ऊपरी स्तरों से मिले हैं, उनके विषय में निश्चत रूप से कुछ नहीं का जा सकता है।

लंघनाज के लोगों की अर्थ–व्यवस्था पशुओं के शिकार पर आधारित प्रतीत होती है। लंघनाज के उत्खनन से जिन पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं उनमें गाय, भैंस, हिरण, जंगली सुअर, बारहसिंघा, नीलगाय, गैंडा तथा भेडिया आदि प्रमुख हैं। सभी हड्डिया जंगली पशुओं की हैं। पशुओं को पालतू बनाने के संकेत नहीं परिलक्षित होते हैं। कृदन्तक जीवों में चूहे, गिलहरी तथा नेवले की हड्डियां मिली हैं। ये सभी घास के मैदान में पाये जाने वाले पशु तथा जीव–जन्तु थे।

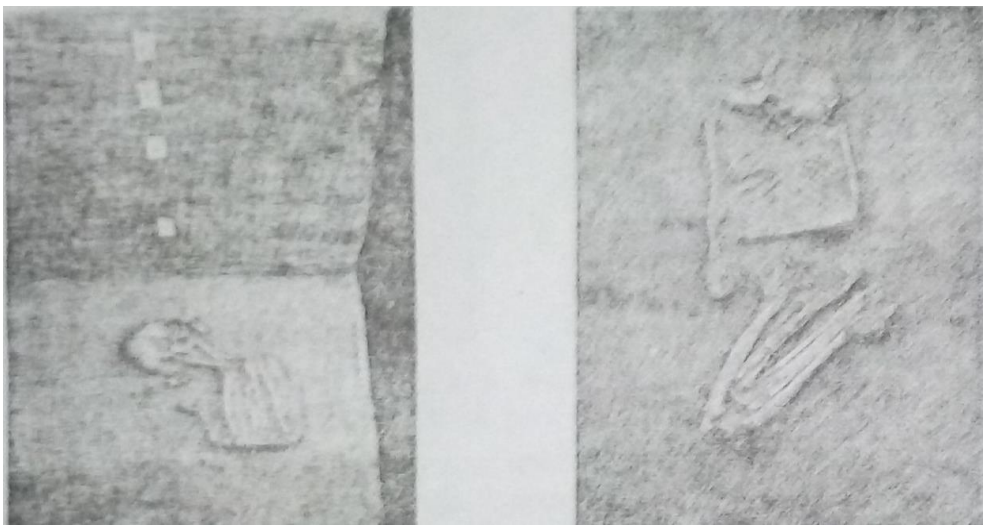

चित्र–22 लंघनाजः मुड़ी हुई अवस्था में समाधिस्थ मानव कंकाल सांकलिया (1974) के सौजन्य से

लंघनाज के उत्खनन से 14 मानव–कंकाल प्राप्त हुए हैं, जिनमें से 13 को पैर मोड़ कर दाहिनी करवट लिटाकर दफनाया गया था (चित्र संख्या–22)। चौदहवाँ कंकाल विस्तीर्ण मुद्रा में दफनाया गया था। चौदह में से 13 कंकालों के सिर पूर्व दिशा और पैर पश्चिम दिशा की ओर करके दफनाये गये थे। क्या शवाधानों के इस दिक्–स्थापन में परिवर्तन के पीछे भिन्न मानव प्रजातीय पृष्ठभूमि का हाथ था।? सभी मानव कंकाल पूर्ण सुरक्षित अवस्था में नहीं मिले है। कंकाल संख्या I, II, VII, X तथा XIII की मात्र कतिपय मानव अस्थियाँ ही प्राप्त हुई थीं और वे भी अपनी मूल–स्थिति में नहीं थीं(पाण्डेय, जे0एन0, 2008:282)

मृतकों के साथ अन्त्येष्टि–सामग्री (Grave-goods) दफनाते समय रखी गयी थी अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है तथापि इस बात की संभावना है कि कतिपय मृतको के साथ पशुओं की हड्डियाँ, मनके तथा डेंटैलियम की सीपियाँ (Dantalium Shells)दफनाई गई रही होंगी।

लंघनाज के 14 कंकलों में केवल 8 मानव कंकालों के लिंगा का निर्धाणरण हो पाया है। इनमें से 5 कंकाल निश्चयतः और एक संभवतः पुरूष के हैं, दो कंकालों में एक निश्चित रूप से तथा दूसरा संभावित रूप से स्त्री के हैं। कंकाल

संख्या I के बाँये हाथ की टूटी अन्तःप्रकोष्ठिका I के जोड़ में गाँठ मिली है। कंकाल के दाँतों में दन्त–क्षय (Caries) के प्रमाण मिले हैं। केवल चार कंकाल (III,V,XII एवं XIV) की लम्बाई की माप हो सकी है। इनमें से पुरूष कंकाल III, V तथा XIV की लम्बाई क्रमशः 167 सेमी, 174 सेमी तथा 166.52 सेमी है। एक मात्र नारी कंकाल की लम्बाई 158 सेमी है। इस प्रकार लंघनाज के पुरूष तथा स्त्री औसम कद के थे। कपाल–गुहा का औसतमान 1183 सी.सी. से 1430 सी.सी. है। कतिपय कंकालों के कपालों के टेडे होने के आधार पर यह संभावना प्रकट की गई थी कि लंघनाज के मध्य पाषाणिक लोग नर–मांस भक्षी थे, लेकिन के.ए.आर, केनेडी ने इस कोटि के सभी कंकालों का विधिवत् अध्ययन करके यह अभ्मित प्रकट किया है कि मिट्टी के तापक्रम एवं आर्द्रता तथा ऊपरी निक्षेप के दबाव के परिणामस्वरूप कपाल टूट गए है। इस प्रकार कपालों के क्षत विक्षत होनेके पीछे प्राकृतिक शक्तियों का हाथ माना जा सकता है (संकालिया, एच0डी0, 1965:10–50)।

लंघनाज के कंकालों के अध्ययन के आधार पर इनकी प्रजातीय विशेषताएँ निर्धारित करने के भी प्रयास किये गये हैं। इरावती कर्वे का विचार है कि इन कंकालों में नीग्रो प्रजाति के तत्त्व विद्यमान हैं। इनके वंशज मिश्र के थे। सोफी एरहार्अ को इन कंकालों में भूमध्य सागरीय मानव प्रजाति के तत्त्व ज्ञात हुए। डी. एच. गॉर्डन का मत है कि इन कंकालों में पूर्वी अफ्रीका की हैमेटिक मानव प्रजाति की कतिपय विशेषताएँ दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार इन मानव कंकालों की प्रजातीय स्थिति के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं है (संकालिया, एच0डी0, 1974)।

लंघनाज की मध्य पाषाणिक संस्कृति के तिथि–क्रम के विषय में यहीं कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध मध्य पाषाण काल के परवर्ती चरण से है, क्योंकि ज्यामितीय उपकरण एवं मृदभाण्ड यहाँ से मिले हैं। लंघनाज से एक रेडियो कार्बन तिथि भी ज्ञात है जो (टी.एफ.744) 2040±110 ई.पू. है।

7.11 तिरूनेलवेल्लि–

तमिलनाडु के पूर्वी तट पर चेन्नई के दक्षिण में तिरूनेल्वेलि जिले में वायुजनित निक्षेप से निर्मित बालू के टीले हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में टेरी कहते हैं। इन बालुका स्तूपों पर मध्य पाषाण काल के अनेक पुरास्थल स्थिति हैं, जिन्हे प्रायः 'टेरी पुरास्थल कहा जाता है। मध्य पाषाण कालके इन पुरास्थलों की खोज का श्रेय राबर्ट ब्रूसफूट को है। तत्पश्चात् 1942 में ए. अयप्पन ने इनका अध्ययन किया। सन 1949 में एफ.ई. जाइनर ने तिरूनेल्वेलि जाकर भूतात्त्विक दृष्टि से टेरी पुरास्थलों का अनुसंधान किया। एफ.ई.जाइनर तथा बी. आल्चिन ने 11टेरी पुरास्थलों की भूतात्त्विक पृष्ठभूमि एवं पुरातात्त्विक अवशेषों के विषय में विस्तृत अध्ययन करके सन्

1956 में एक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया। मेग्नानपुरम, कट्टमपली, कुथनकुली, सवायारपुरम, कटटलनकुलम, कुलत्तूर पट्टनतरूवई, सुरंगुड़ी, नाजरेथ, मनाडु तथा कयमोलि नामक ये 11 पुरास्थल अश्मीभूात बालुका स्तूपों पर स्थित हैं। बालू के इन टीलों का जिस समय निर्माण होरहा था, उस समय समुद का जल–स्तर आजकल की तुलना में 6 से 9 मीटर ऊंचा रहा होगा। मध्य पाषाणिक मानव ने इसरेतीले टीलों के जिस घरातल पर निवास किया, उसे वायुजनित निक्षेप की प्रक्रिया से निर्मित मान जाता है।एफ.ई.जाइनर ने अपने भूतात्त्विक अनुसंधान के आधार पर टेरी मध्य पाषाण काल का समय4,000 ईसा पूर्व से पहले निर्धारित किया है(पाण्डेय, जे0एन0, 2008:269) ।

टेरी पुरास्थलों पर जो लघु पाषाण उपकरण मिले हैं, उनमें से 50% क्वार्ट्ज पर, शेष 50% हल्के भूरे रंग के चर्ट पर बने हुए हैं। मेग्नानपुरम से ज्यामितीय उपकरण नहीं मिले हैं, इस आधार पर यहॉ के लघु पाषाण उपकरणों को सबसे प्राचीन माना गया हैं अन्य पुरास्थलों पर ब्लेड, कुण्ठित पार्श्व वाले ब्लेड, चान्द्रिक, बेधक, नतोदर स्क्रेपर, फलक, छिद्रक, ब्यूरिन तथा दो पुरास्थलों से चॉपिग उपकरण मिले हैं। कुलत्तूर से चान्द्रिक सबसे अधिक संख्या में मिले हैं, साथ ही साथ त्रिभुजाकार ज्यामितीय उपकरण भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं। बेधकों तथा कतिपय अन्य लघु पाषाण उपकरणों का निर्माण दबाव प्रविधि से किया गया है, जो मध्य पाषाण काल के उपकरणों के निर्माण की दृष्टि से भारत में अनोखा है तथा अन्यत्र अप्राप्त है।

7.12 महाराष्ट्र

महाराष्ट्र में मध्यपाषाण काल के अनुसंधान की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। अभी तक धरातल से प्राप्त मध्य पाषाणिक उपकरण ही ज्ञात हैं क्योंकि इस संस्कृति से सम्बद्ध किसी पुरास्थल का उत्खनन नही हुआ है। के.आर.यू.टॉड को मुम्बई के पास स्थित खाण्डिवली से मध्य पाषाण काल के उपकरण मिले थे, जिनका विवरण सन् 1950 में प्रकाशित किया गया। पैठन, नासिक, धुले, अहमदनगर तथा पुणे आदि जिलों में मध्यपाषाणिक अनेक पुरास्थल खोजे गए हैं। कोंकण के समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में थाणे जिले में उल्हास तथा अम्बा नामक नदियों के तटो पर कई मध्य पाषाणिक पुरास्थल स्थिति हैं। महाराष्ट्र में लघु पाषाण उपकरणों का निर्माण मुख्यतः चर्ट, चाल्सेडनी, अगेट तथा क्वार्ट्ज पर किया गया है। समानान्तर एवं कुण्ठित पार्श्व वाले ब्लेड, चान्द्रिक, त्रिभुज, बेधक, बाणाग्र तथा स्क्रेपर आदि प्रमुख उपकरण मिलते हैं।

7.13 कर्नाटक–

कर्नाटक के रायचूर, बेल्लारी, बेंगलूर, चित्रदुर्ग, बेलगाँव तथा गुलबर्गा आदि जिलों से मध्य पाषाण काल के अनेक पुरास्थल प्रतिवेदित हैं। रायचूर जिले में

कृष्णा नदी की घाटी से क्वार्ट्ज प्रस्तर पर बने हुए लघु पाषाण उपकरण मिले है। बेल्लारी जिले में स्थित संगनकल्लू नामक पुरास्थल बेल्लारी कस्बे से लगभग 5 किमी उत्तर–पूर्व दिशा में बेल्लारी मोका मार्ग पर स्थित है। यहाँ पर सन 1946 में बी0 सुब्बाराव ने उत्खनन कराया था। तत्पश्चात् 1969 में एच.डी. सांकलिया ने उत्खनन कार्य सम्पन्न कराया। यहाँ के उत्खनन के फलस्वरूप मध्य पाषाणिक पुरावशेष मध्य पुरापाषाणिक जमाव के उपर तथा नव पाषाण काल के स्तरित जमाव केनीचे प्राप्त हुए। इस प्रकार मध्यपाषाण काल की मध्यवर्ती स्थिति के विषय में यहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य उल्लेखनीय हैं। बेगलूर के पास जलहल्ली नामक स्थान के पास मध्य पाषाण काल के अनेक पुरास्थल स्थित हैं, जहाँ से क्वार्ट्ज पर बने हुए उपकरण प्राप्त हैं। गुलबर्गा जिले में अवस्थित कृष्णा एवं भीमा नदियों के मध्यवर्ती शोरापुर दोआब का अन्वेषण दकन कालेज, पुणे के के. पद्दैया ने किया है, जिसके फलस्वरूप मध्य पाषाण काल के 25 पुरास्थल प्रकाशमें आए हैं। के0 पद्दैयाने दस हजार लघुपाषाणउपकरणों का विश्लेषण किया है। नव पाषाण काल के उपकरणों की तुलना में मध्य पाषाण काल के लधु पाषाण उपकरण पतले तथा कम चौड़े हैं। इनमें से अधिकांशतः चर्ट पर बने हुए है। प्रमुख उपकरणों में कुण्ठित पृष्ठ वाले ब्लेड, चान्द्रिक, छिद्रक तथा ब्यूरिन आदि हैं। इस प्रकार शोरापुर दोआब की मध्य पाषाणिक संस्कृति अज्यामितीय है।

7.14 सारांश

मध्यपाषाणकाल मानव विकास के उस चरण से संबंधित था जब मानव शिकार की पद्धति के साथ–साथ संग्रह करने की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। यह काल पाषाणकाल का मध्यवर्ती चरण था और बदलाव की संक्रमणात्मक अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। इस काल तक आते–आते उपकरण अत्यंत छोटे हो जाते हैं, जिसमें ज्यामितीय और अज्यामितीय दोनों प्रकार के उपकरण प्रयोग किए जाते थे। इस संस्कृति से संबंधित साक्ष्य भारत के लगभग प्रत्येक क्षेत्र से प्राप्त होते हैं। काल गणना के आधार पर देखा जाए तो यह काल लगभग 10,000 ईसा पूर्व से शुरू करके 6000 ईसा पूर्व तक माना जाता है। इस काल की सांस्कृतिक विशेषता में लघु पाषाण उपकरण, शवाधान करने की परंपरा, शैलचित्र कला, आभूषण निर्माण कला के साथ–साथ जंगली अनाज के दानों को संग्रह करने की और उसका खाद्यान्न के रूप में प्रयोग करने की प्रक्रिया भी दिखाई देती है अर्थात् हम कह सकते हैं कि यह काल पाषाणकालीन अर्थव्यवस्था की बदलाव का मध्यवर्ती चरण था।

7.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।

3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।

4. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

5. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।

6. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

7. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.

8. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।

9. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।

10. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

7.16 बोध प्रश्न

1. विन्ध्य क्षेत्र की मध्य पाषाणिक संस्कृति की विवेचना कीजिए।

2.भारत की मध्य पाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

3.मध्य गंगा मैदान की मध्य पाषाणिक संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

4.मध्य पाषाणिक उपकरण प्रकारों की विवेचना कीजिए।

इकाई–8 नवपाषाण काल–उत्तरी भारत–बुर्जहोम और गुफकराल,मध्य गंगा मैदान–चिरांद, पूर्वी भारत–दाओजली हैडिंग, कुचाई, विन्ध्य क्षेत्र–कोल्डिहवा, महगड़ा

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 नवपाषाण काल

8.4 उत्तरी भारत–बुर्जहोम और गुफकराल

8.4.1 बुर्जहोम

8.4.2 गुफकराल

8.5 मध्य गंगा मैदानः झूंसी, लहुरादेवा, सेनुवार, चिरांद आदि

8.5.1 प्रमुख उत्खनित स्थल

8.5.2 चरांद

8.6 पूर्वी भारत–चिरांद, दाओजली हैडिंग, कुचाई

8.6.1 दाओजली हैडिंग

8.6.2 कुचाई

8.7 विन्ध्य क्षेत्र–कोल्डिहवा, महगड़ा

8.7.1 कोल्डिहवा

8.7.2 महगड़ा

8.8 सारांश

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.10 बोध प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

भारत में नव पाषाणकालीन संस्कृति का प्रथम साक्ष्य कर्नाटक के लिंगसुगुर नामक पुरास्थल से 1842 ई0 में एम0 एच0 कृष्णा द्वारा प्रतिवेदित किया गया। जो तत्कालीन मैसूर राज्य के रायपुर जिले में स्थित था। सन् 1860 ई0 में एच0 पी0 ला0 मसुरिए को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में टोंस घाटी से नव पाषाण काल

के कुछ उपकरण प्राप्त हुए थें। बाद में इस प्रकार के पाषाण उपकरणो का प्रतिवेदन बुन्देलखण्ड, दक्षिण तथा पूर्वी भारत के अनेक क्षेत्रो में समय–समय पर होता रहा है। इस संस्कृति से संबंधित मुख्य क्षेत्र की पहचान भी समय–समय पर बदलती रही हैं। इसका मुख्य कारण उपलब्ध पुरातात्विक सामाग्री हैं, जो क्रमशः अधिक मात्रा में तथा नए क्षेत्रो से प्राप्त होती जा रही हैं। दकन कॉलेज (पूणे) के 1964 की पुराविद गोष्ठी में बाल कृष्ण थापर ने तब तक प्राप्त पुरावशेषो के आधार पर भारतीय नव प्रस्तरकालीन संस्कृतियो के तीन क्षेत्रो उत्तरी, दक्षिणी, तथा पूर्वी भाग में पाए जाने की बात कही थीं। चौथे वर्ग की संभावना उन्होंने मध्य तथा पश्चिमी भाग में बताई, जहाँ नव पाषाण अवशेष ताम्र पाषण चरण के साथ विस्तृत अवस्था में उपलब्ध थे।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- नव पाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं के विषय में।
- नव पाषाणिक आर्थिक बदलावों के विषय में।
- उपकरण प्रकार एवं तकनीकी के विषय में।
- भारत के विभिन्न क्षेत्रों की नव पाषाणिक संस्कृति के बारे में।

8.3 नवपाषाण कालीन संस्कृति

नव पाषाण काल भारतीय प्रागैतिहास का अंतिम चरण था। इस काल में मानव प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं का प्रयोग अपने जीवन–यापन के लिए करने लगा था तथा पहाड़ी क्षेत्रों से उतरकर मैदानी क्षेत्रो में अपना निवास बनाना शुरू कर दिया था। भारत में नव पाषाणकालीन संस्कृति का प्रथम साक्ष्य कर्नाटक के लिंगसुगुर नामक पुरास्थल से 1842 ई0 में एम0 एच0 कृष्णा द्वारा प्रतिवेदित किया गया। जो तत्कालीन मैसूर राज्य के रायपुर जिले में स्थित था। सन् 1860 ई0 में एच0 पी0 ला0 मसुरिए को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में टोंस घाटी से नव पाषाण काल के कुछ उपकरण प्राप्त हुए थें। बाद में इस प्रकार के पाषाण उपकरणो का प्रतिवेदन बुन्देलखण्ड दक्षिण तथा पूर्वी भारत के अनेक क्षेत्रो में समय–समय पर होता रहा है।

राबर्ट ब्रूशफूट नामक विद्वान ने दक्षिण भारत के कई स्थलो पर राख के ढ़ेरो को नवपाषाणिक बताया था, जो नवपाषाणिक पशुओं के गोबर के इकट्ठा होने और उसे जलाने के बाद बने थे। ब्रूशफ्रूट को दक्षिण भारत की नवपाषाणिक संस्कृति से संबंधित कोई अन्य साक्ष्य नहीं मिला है। जॉन लुम्ब्बक ने 1867 ई0 में आसाम के ऊपरी भाग में ब्रम्हपुत्र नदी घाटी से नवपाषाणिक साक्ष्य प्राप्त किए। नवपाषाणकालीन संस्कृति से संबंधित पुरास्थल लगभग भारत के प्रत्येक क्षेत्र से

समय–समय पर प्रतिवेदित होते रहे हैं। इससे इस संस्कृति से संबंधित मुख्य क्षेत्र की पहचान भी समय–समय पर बदलती रही हैं। इसका मुख्य कारण उपलब्ध पुरातात्विक सामग्री हैं। जो क्रमशः अधिक मात्रा में तथा नए क्षेत्रो से प्राप्त होती जा रही हैं। दकन कॉलेज (पूणे) के 1964 की पुराविद गोष्ठी में बाल कृष्ण थापर ने तब तक प्राप्त पुरावशेषो के आधार पर भारतीय नव प्रस्तरकालीन संस्कृतियो के तीन क्षेत्रो उत्तरी, दक्षिणी, तथा पूर्वी भाग में पाए जाने की बात कही थीं। चौथे वर्ग की संभावना उन्होंने मध्य तथा पश्चिमी भाग में बताई। जहाँ नव पाषाण अवशेष ताम्र पाषण चरण के साथ विस्तृत अवस्था में उपलब्ध थे। लेकिन बाद में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर थापर ने 6 क्षेत्रों का अस्तित्व माना जो निम्नवत है :–

1. उत्तर भारत में कश्मीर घाटी
2. विन्ध्य क्षेत्र
3. उत्तर–पूर्व में बिहार की गंगा घाटी
4. पूर्वोत्तर में असम
5. मध्य–पूर्व में छोटा नागपुर का पठार (बंगाल, बिहार, और उड़ीसा)
6. दक्षिण भारत

8.4 उत्तरी भारत–बुर्जहोम और गुफकराल

8.4.1 बुर्जहोम

उत्तर भारत का नवपाषाण कालीन पुरास्थल बुर्जहोम जम्मू–कश्मीर में स्थित है। यह भारतीय का केंद्र शासित प्रदेश जम्मू–कश्मीर की कश्मीर घाटी में स्थित है। बुर्जहोम पुरास्थल श्रीनगर जिले में इसी नाम के गांव में एक प्रागैतिहासिक बस्ती है । यह श्रीनगर के उत्तर–पश्चिम मे नसीम–शालीमार रोड पर 16 किलोमीटर (9.9 मील) दूर है। साइट की ऊंचाई समुद्र तल से 1,800 मीटर (5,900 फीट) है। यह भारत का सबसे उत्तरी उत्खनित नवपाषाण स्थल है। पुरास्थल एक प्राचीन प्रातिनूतन झील के तल पर है। पुरास्थल ऊंचाई पर स्थित है, जो झेलम नदी की बाढ़ का हिस्सा है और इसमें करेवा मिट्टी का जमाव है। पुरास्थल से डल झील का एक शानदार दृश्य दिखाई देता है जो लगभग 2 किलोमीटर (1.2 मील) दूर है। कश्मीरी भाषा'बुर्ज' का अर्थ है '' बर्च '', एक पेड़ की प्रजाति जो आमतौर पर हिमालय क्षेत्र में पायी जाती है। बुर्जहोम पुरास्थल पर पहला उत्खनन 1936 ईस्वी में एक सीमित अभ्यास था, जिसे हेल्मुट डी टेरा और डॉ थॉमसन पैटर्सन की अध्यक्षता में येल–कैम्ब्रिज अभियान दल द्वारा किया गया था। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के फ्रंटियर सर्कल ने 1961 और 1971 ईस्वी के बीच इस स्थल का विस्तृत

अध्ययन किया। टी. एन. खजांची और उनके सहयोगियों द्वारा बुर्जहोम पुरास्थल का उत्खनन करवाया गया। इस पुरास्थल के उत्खनन से 3000 ईसा पूर्व से लेकर 1000 ईसा पूर्व के बीच के सांस्कृतिक महत्व के तीन चरणों का पता चला है। जिसका विवरण निम्नवत् है–

1. नवपाषाण युग
2. महापाषाण युग (बड़े पैमाने पर पत्थर के मेनहिर और पहिया, लाल मिट्टी के बर्तन)
3. प्रारंभिक ऐतिहासिक काल (महापाषाणोत्तर काल)

बुर्जहोम पुरास्थल के नवपाषाणिक लोगों के द्वारा भूमिगत और जमीन के सतह पर आवास बनाते थे। महापाषाण युग के लोग मिट्टी की ईंटों का प्रयोग आवासीय संरचनाओं के निर्माण में किये हैं। स्थल पर पाए गए हड्डी और पत्थर से बने औजारों और अनाज के बड़े भंडार से पता चलता है कि यहा का मानव शिकार और खेती कर रहे थे।

इस पुरास्थल से प्राप्त पुरावशेषों में कला, वास्तुकला, रीति–रिवाजों और अनुष्ठानों के संकेत मिलते है कि बुर्जहोम के प्रागैतिहासिक लोगों ने मध्य एशिया और दक्षिण पश्चिम एशिया के साथ संपर्क स्थापित किया और गंगा के मैदानों और प्रायद्वीपीय भारत से भी संबंध थे । स्थानीय और विदेशी प्रभावों की परस्पर क्रिया कलाप, वास्तुकला, रीति–रिवाजों और भाषा द्वारा प्रदर्शित होती है जो मिट्टी के बर्तनों और अन्य कलाकृतियों पर कुछ नक्काशी द्वारा प्रदर्शित होती है। अस्थि उपकरणों को सर्वप्रथम बुर्जहोम से प्राप्त किया गया। अस्थि उपकरणों में हार्पून, सुई हार्वेस्टर, बाणाग्र, स्क्रैपर इत्यादि है। बुर्जहोम से मानव शवाधान प्राप्त हुए हैं। बुर्जहोम के प्रथम काल से किसी प्रकार के शवाधानों की प्राप्ति नहीं होती है। शवाधानों की प्राप्ति आवासीय क्षेत्र से हुई है।

8.4.2 गुफकराल

उत्तर भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति में गुफकराल पुरास्थल का महत्वपूर्ण स्थान है।गुफकराल में 'गुफ' का अर्थ है 'गुफा' और ' क्राल ' का अर्थ कुम्हार है अर्थात कुम्हारों का निवास स्थान है जो गुफाओं का उपयोग करते हैं। गुफ्कराल की गुफा कश्मीर की सबसे पुरानी गुफाओं में से एक है। गुफकराल जम्मू और कश्मीर के पुलवामा जिले में त्राल के तहसील शहर के पास श्रीनगर से 41 किमी (25 मील) दक्षिण–पूर्व में स्थित है । यहां पर 1981 में 18 अगस्त से 20 अक्टूबर तक ए. के. शर्मा के नेतृत्व में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण टीम द्वारा उत्खनन का कार्य किया गया। उत्खनन के उपरांत यहां से एसरेमिक नियोलिथिक से लेकर

मेगालिथिक काल तक पांच कालों के साक्ष्य प्राप्त हुए है जिनको मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है–

1. नवपाषाण काल
2. महापाषाण काल
3. प्रारंभिक ऐतिहासिक काल

यहां की नवपाषाणिक संस्कृति का विकास तीन चरणों में दिखाई देता है–

1. प्रथम काल 'अ'
2. प्रथम काल 'ब'
3. प्रथम काल 'स'

प्रथम काल 'अ' से प्राप्त पुरावशेषों के माध्यम से ज्ञात होता है कि इस चरण के मानव की अर्थव्यवस्था संग्राहक व कृषक दोनों प्रकार की थी, यहाँ से गेहूं ,जौ, मटर आदि अनाज के दानों के प्रमाण पूरावनस्पति अध्ययन से प्राप्त हुए हैं। जंगली तथा पालतू के पशुओं के हडिड्यों की भी प्राप्ति महत्वपूर्ण है। इस चरण से महत्वपूर्ण प्रमाण आवासीय गड्ढे हैं जो कि वृत्ताकार व आयताकार है। अंडाकार व चौकोर गड्ढ़ों का निर्माण बहुत कम मिलता है। इन गड्ढ़ों के मुख के पास से पोस्ट होल्स की प्राप्ति होती है जो उनकी छाजन पर प्रकाश डालती है। उपकरणों में अस्थि व पाषाण निर्मित उपकरणों का प्रयोग किया गया है। कुछ उपकरणों का निर्माण श्रृंग पर किया गया है। प्रमुख उपकरणों में कुल्हाड़ी, वसूली, गैति, छिद्रक, पॉइंट, सिल–लोढ़ा के अलावा सुई तथा हार्पून मिलते हैं।

प्रथम काल 'ब' से मृदभांडों की प्राप्ति होने लगती है। यहाँ से पालतू पशुओं की संख्या में वृद्धि हुई तथा जंगली जानवरों की हड्डी की संख्या में पूर्व की तुलना में कमी देखी गई। इस चरण से प्राप्त पशु जिसका शिकार किया गया वो हर्बीवोरस थे। इस चरण के पुरावशेष पूर्ववर्ती चरणों के समान है। आवासीय परिवेश में पूर्ववर्ती चरणों की विशेषता परिलक्षित होती है। कुछ गर्त आवासों में चारों तरफ संग्रह गड्ढे बनाए गए हैं तथा बीच में चूल्हे के प्रमाण प्रकाश में आए हैं। इस चरण से प्राप्त मृदभांडों में जार, कटोरी, बेसिन प्रमुख हैं। इन पर चटाई की छाप से अलंकरण किया गया है।

प्रथम काल 'स' इस संस्कृति का अंतिम चरण है। इस चरण के आवास पृथ्वी की सतह पर मिलते हैं। इस काल के मानव ने झोपड़ियों का निर्माण किया। झोपड़ियों के निर्माण के लिए मिट्टी तथा बांस और बल्ली का प्रयोग संभवतः किया जाता होगा। पूर्ववर्ती चरणों की तुलना में इस चरण के उपकरण अधिक अच्छी तरह

से निर्मित मिलते हैं, प्राप्त उपकरणों में छोटे आकार के हड्डी के बने पॉइंट, कुदाल और फसलों के काटने वाले उपकरण प्रमुख हैं। मृदभांडों में जार कटोरा बेसिन प्रमुख हैं। प्रमुख मृदभाण्ड प्रकारों में बर्निश्ड ग्रे वेयर की प्राप्ति होती है।

8.5 मध्य गंगा मैदानः नवपाषाणिक संस्कृति

मध्य गंगा के मैदान में भी इस काल तक आते–आते जनसंख्या वृद्धि के संकेत प्राप्त होते हैं क्योंकि यह क्षेत्र कृषि के उत्पादन के लिए उपयुक्त था और जलवायु परिवर्तन के कारण जंगली श्रोत का भी विनाश हो रहा था। अतः मानव की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि ही हो गया था जिसकी पुष्टि इस क्षेत्र के उत्खनित प्रमुख स्थलों सोहगौरा (आई0ए0आर0 1974–75 : 46–47; चुतर्वेदी. 1985 : 101–108), चिरांद (आई.ए0आर0 1981–82 : 13–14; वर्मा. 1989 : 103–105), सेनुवार (सिंह. 1990 : 6–18, 1997 : 3–33, 2001 : 109–118), लहुरादेवा (तिवारी. 2001), इमलीडीह खुर्द (सिंह. 1992–93 : 21–35 : 21–35, 1993–94 : 41–48), झूँसी (मिश्रा व पाल. 2002–2003 : 227–229), चेचर–कुतुबपुर (आई0ए0आर0 1977–78 : 17–18), ताराडीह (आई0ए0आर0 1984–85 : 10, आई0ए0आर0 1986–87 : 23–24, आई0ए0आर0 1987–88 : 9–11), हेतापट्टी (पाल&गुप्ता. 2005 : 163–168), भुनाडीह (सिंह एण्ड सिंह. 1997–98 : 11–29), वैना (सिंह और सिंह. 1994–95 : 21–36), मनेर (आई0ए0आर0 1985–86 : 11–12; आई0ए0आर0. 1986–87 : 25–26; आई0ए0आर0 1987–88 : 11–12; आई0ए0आर0 1988–89 : 7–8) और पवकाकोट (दुबे, सिंह और लामा. 2012 : 15–39) से प्राप्त अवशेषों से होती है।

8.5.1 प्रमुख उत्खनित स्थलः झूंसी, लहुरादेवा, सेनुवार, चिरांद आदि

सारणीः मध्य गंगा मैदान केप्रमुखउत्खनितनवपाषाणिक पुरास्थल

पुरास्थल	स्थिति	उत्खनन–कर्ता	उत्खनन वर्ष	अक्षांशीय देशान्तरीय विस्तार	सांस्कृतिक अनुक्रम	नदी
चिरांद	बिहार के सारण जिले में	बिहार राज्य पुरातत्व निदेशालय द्वारा	1963–69 1969–70 1970–74	$25^0$45′ उत्तरी अक्षांश $84^0$50′ पूर्वी देशान्तर	नवपाषाण काल से लेकर पाल–कल्चुरी काल तक	गंगा

चेचर–कुतुबपुर	बिहार के वैशाली जनपद में	आर0एस0 विष्ट द्वारा	1977–78	$25^0$30′ उत्तरी अक्षांश $85^0$30′ पूर्वी देशान्तर	नवपाषाण काल ताम्रपाषाण काल एन0बी0पी0 डब्लू काल	गंगा
सेनुवार	बिहार के रोहतास जिले में	बी0पी0 सिंह	1986–87	$24^0$56′ उत्तरी अक्षांश $83^0$56′ पूर्वी देशान्तर	नवपाषाण काल ताम्रपाषाण काल एन0बी0पी0 डब्लू काल कुषाण काल	
सोहगौरा	उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद में	एस0एन0 चतुर्वेदी	1962–63 1975–76	$26^0$30′ उत्तरी अक्षांश $83^0$15′25′′ पूर्वी देशान्तर	नवपाषाण कालीन से लेकर मध्य कालीन संस्कृति तक का प्रमाण	आमी और राप्ती नदियों के संगम पर
इमलीडीह खुर्द	उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जनपद में	पुरुषोत्तम सिंह	1992	$26^0$30′ उत्तरी अक्षांश $80^0$12′ पूर्वी देशान्तर	पूर्व नरहन संस्कृति (नवपाषाणिक संस्कृति) नरहन संस्कृति	कुवानो नदी
लहुरादेवा	उत्तर प्रदेश के सन्त कबीर नगर जनपद में	राकेश तिवारी	2001–2002	$26^0$46′ उत्तरी अक्षांश $82^0$57′ पूर्वी देशान्तर	1. नवपाषाण काल 2. ताम्रपाषाण काल 3. प्रारम्भिक लौह काल 4. एन0बी0वी0	कुवानों की सहायक कठनेहिया नदी

					डब्लू0 5. प्रारम्भिक शताब्दी ई0पू0	
झूंसी	उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में	इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रा.भा. इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग द्वारा	1994–95 1998–1999 2000 में	$25^0 26' 10''$ उत्तरी अक्षांश $81^0 54' 30''$ पूर्वी देशान्तर	1. नवपाषाण कालीन 2. ताम्रपाषाण कालीन 3. एन0बी0पी0 डब्लू0 4. शुंग–कुषाण कालीन	गंगा–यमुना के संगम पर
पक्काकोट	उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में	सीताराम दूबे अशोक कुमार सिंह एवं गौतम कुमार लामा द्वारा	2010–11 2011–12 2012–13	$25^0 45' 10''$ उत्तरी अक्षांश $84^0 0' 30''$ पूर्वी देशान्तर	1. नवपाषाण कालीन 2. ताम्रपाषाण कालीन 3. एन0बी0पी0 डब्लू0 काल 4. शुंग काल 5. कुषाण काल	छोटी सरयु (टोन्स)

8.5.2 चिरांद ($25^0 45'$ उत्तरी अक्षांश, $84^0 50'$ पूर्वी देशान्तर)

नवपाषाण कालीन संस्कृति में चिरांद पुरास्थल का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि जब देश के हर कोने में नवपाषाणिक अवशेष मिल रहे थे, गंगा के मैदान में इस पुरास्थल की खोज से पहले अभाव प्रतीत होता था। विद्वानों का मानना था कि गंगा मैदान में इस काल में कोई मानवीय क्रिया–कलाप नहीं होता था अर्थात् मध्य गंगा के मैदान का इतिहास इस काल में अन्धकारमय था। इस भ्रान्ति को खत्म करने का कार्य इस पुरास्थल की खोज और उत्खनन से प्राप्त अवशेषों ने किया। पहले जो प्रागैतिहासिक विद्वानों की मान्यता थी कि नवपाषाणिक स्थल केवल

पहाड़ी क्षेत्रों में ही उपलब्ध हो सकते हैं क्योंकि पहाड़ी क्षेत्रों में पानी और कच्चे माल आसानी से मिल जाते थे लेकिन मैदानी भागों में इनका अभाव था इस भ्रान्ति को भी इस पुरास्थल की प्राप्ति ने तोड़ दिया।

नवपाषाण कालीन संस्कृति की विशेषाताएँ :–

उपकरण प्रकार

माध्यम :– पहले से बड़े होंगे :–

- क्वार्टजाइट, क्वाटर्ज, चर्ट, फ्लिन्ट, जैस्पर इत्यादि।
- आग्नेय पाषाणों में– बेसाल्ट और डोलेराइट का प्रयोग

तकनीक :– जो निम्न है–

1- फलकीकरण (Flaking)
2- समतलीकरन (Pecing)
3- घर्षण (Grinding)
4- चमकाना (Polishing)

उपकरण प्रकार :–1. कुल्हाड़ी (Celt)

- समनान्त कुल्हाड़ी
- शूलास्टक कुल्हाड़ी
- खाँचेदार कुल्हाड़ी

2. बसुली (Adze)
3. छेनी (Chisel)
4. सिल–लोढ़ा
5. गैती (Pick)

अर्थव्यवस्था :– जो निम्न है :–

- कृषि
- प"ुपालन
- मृदभाण्ड
- अन्य उघोग धन्धे
- दस्तकारी
- ि"ाल्पकारी
- **मूर्तन** :– मिट्टी, पाषाण
- आभूषण और साज–सज्जा–मनके

मृदभाण्ड :–

1. डोरी–छाप, मृदभाण्ड–कटोरा, घड़ा, कठौतियाँ

इसलिए यह पुरास्थल गंगा मैदान और भारत के प्रागैतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसके माध्मय से मध्य गंगा मैदान का इतिहास भी प्रागैतिहासिक काल तक स्पष्ट हो गया और सांस्कृतिक कालानुक्रम की तारतम्यता को भी स्पष्ट आधार मिला।

इस पुरास्थल की खोज के बाद और बहुत से पुरास्थल समय–समय पर प्रकाश में आने लगे जैसे–झूंसी, लहुरादेवा, सेनुवार, इमलीडीह खुर्द, चेचर कुतुबपुर, ताराडीह, सोहगौरा इत्यादि (वर्मा. 2007 : i-ii)।

चिरांद पुरास्थल बिहार के सारन जिले में घाघरा और गंगा के संप्रवाह/संगम पर स्थित है। इस स्थल के बारे में हन्टर्स के स्टेस्टिकल डिस्ट्रिक्ट एकाउन्ट में 1887 में उल्लेख किया गया है और पुरास्थल को गंगा के तट पर स्थित बताया गया है लेकिन कार्लाइल ने घाघरा के पुराने बहाव को देखा और गंगा तथा घाघरा के संगम पर स्थित बताया (सिंहः 2010 : 102)। लम्बे समय के बाद यहाँ पर 1954 में ए0एस0 अल्तेकर द्वारा

पुरास्थल का सर्वेक्षण कार्य किया गया और उनके द्वारा इस पुरास्थल की तिथि 5वीं शताब्दी ई0पू0 बताया गया। जून 1960 में वी0एस0 वर्मा द्वारा इस पुरास्थल के सर्वेक्षण के क्रम में काले और लाल मृदभाण्ड के टुकड़ों को प्राप्त किया गया। इसके आधार पर इस पुरास्थल का काल ताम्रपाषाणिक संस्कृति तक निर्धारित किया गया (वर्माः 1997 : 75)। चिरांद पुरास्थल का उत्खनन वी0एस0 वर्मा द्वारा बी0पी0 सिन्हा के कुशल निर्देशन में बिहार राज्य पुरातत्त्व और संग्रहालय पटना द्वारा सात सत्रों में करवाया गया (वर्माः 2007 : ii)। पुरास्थल का उत्खनन 1962–63 ई0 से 1968–69 तक लगातार करवाया गया। सन् 1969–70 और 1970–71 ई0 में इस का पुनः उत्खनन हुआ जिसमें नवपाषाण संस्कृति का आवासीय जमाव प्रकाश में आया। यहाँ के उत्खनन से कुल पाँच कालों के साक्ष्य मिले हैं : (1) नवपाषाणकाल, (2) ताम्रपाषाण काल (3) एन0बी0पी0 डब्लु संस्कृति, (4) शुंग–कुषाण काल तथा (5) पाल काल (सिंह. 2010 : 102)।

चिरांद के उत्खनन के सन्दर्भ में अल्चिन महोदय ने कहा कि ''चिरांद भारत की नवपाषाणिक संस्कृति के लिए उगता हुआ सूरज है।'' एन0आर0 बनर्जी ने चिरांद के उत्खनन के लिए उत्खनन कर्ता को कहा कि ''तुमने एक नयी दुनिया को खोजा है'' तथा बी0बी0 लाल ने भी चिरांद से प्राप्त हड्डी के औजार के लिए विशेष रूप से उत्खननकर्ता को भाग्यशाली बताया है।

चिरांद के उत्खनन के परिणाम स्वरूप 3.5 मीटर नवपाषाणिक संस्कृति का जमाव मिला है जो प्रथम काल का नेतृत्व करता है। यह जमाव चिरांद पुरास्थल के सी0आर0डी0–XI (CRD-XI) ट्रेंच के 18 से 12वें स्तर तक है। इस काल को दो भागों में बाटा गया है : 'IA' और IB। यह विभाजन पात्रों के आकार–प्रकार के आधार पर किया गया। IA के जो लाल पात्र हैं वह धुमिल हैं तथा ज्यादातर हस्तनिर्मित और मध्यम गढ़न वाले हैं। इन पात्रों पर लेप का भी अभाव है। यह पात्र चिरांद की प्रारम्भिक नवपाषाणिक संस्कृति का नेतृत्व करते हैं। इसके अलावा इस अवस्था से कोई अन्य अवशेष नहीं मिले हैं। इस काल की दूसरी अवस्था 'I B' में अच्छी गढ़न वाले पात्र मिलने लगते हैं। ये पात्र हस्त निर्मित होने के साथ–साथ टर्नटेबल पर बने हैं और इस काल से पात्रों के अलावा टेराकोटा की बनी वस्तुएँ भी मिलती हैं। इस अवस्था में छोटे स्टेटाइट के डिस्क, मनके और फियांस के मनके भी मिले हैं तथा अच्छी तरह से सींग पर बने हड्डी की वस्तुएँ भी मिली है। पाषाण के उपकरण में कुल्हाड़ी, लघु पाषाण उपकरण, मूसल, गदा–शीर्ष आदि मिले है (वर्मा. 2007 : 24–25)। चिरांद के नवपाषाणिक धरातल का विस्तार से उत्खनन नहीं किया गया है लेकिन धरातल से झोपड़ियों के फर्श के अवशेष, मृण्मूर्तियाँ और उपरत्नों के रूप में मनके, चूडियाँ आदि प्रकाश में आयी है (नारायण. 1970 : 1–33)।

चिरांद की नवपाषाणिक अर्थव्यवस्था का प्रमुख आघार कृषि तथा पशुपालन था परन्तु इस काल में पहले से चली आ रही जंगली जानवरों के शिकार की प्रथा का भी प्रचलन जारी था। जलीय जीव–जन्तुओं जैसे–मछली, घोघा, सीपी आदि का प्रयोग भी मानव द्वारा अपने खाद्यान्न के रूप में किया जाता था। यह काल गंगा मैदान के इतिहास में कृषि एवं पशुपालन के प्रारम्भ में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। कृषि और पशुपालन किसी भी काल की अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी जाती है। इसका प्रारम्भ मध्य गंगा मैदान में नवपाषाण काल में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। कृषि और पशुपालन के प्रारम्भ ने मानव के जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया। मानव में स्थायित्व का पूर्ण रूप से प्रारम्भ, आवास का निर्माण, मृदमाण्ड बनाने की कला का प्रारम्भ, आवश्यकतानुरूप चाक का प्रयोग, नये प्रकार के उपकरणों का निर्माण इस काल की विशिष्टता थी। वास्तव में यही मानव के विकास की आधारशिला थी।

8.6 पूर्वी भारत– दाओजली हैडिंग, कुचाई

8.6.1कुचाई

कुचाई पुरास्थल का मध्य–पूर्वी भारत की नवपाषाणकालीन संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। यह पुरास्थल ओडिशा के मयूरभंज जिले में स्थित है। इसका उत्खनन सन् 1961–62 ईस्वी में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की ओर से बी के थापर ने करवाया था। कुचाई पुरास्थल के उत्खनन से 40 से 50 सेंटीमीटर का नव पाषाणकालीन जमाव प्राप्त हुआ है। इस जमाव से नव पाषाणकालीन उपकरण मृदभांड एवं अन्य पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। यहाँ से लाल रंग के हस्तनिर्मित मृदभांड प्राप्त हुए हैं, जिसमें मोटी बालू के कण विद्यमान हैं। इस पात्र–परंपरा के मृदभाण्डों के कुछ टुकड़ों पर गेरूये रंग की पट्टी भी मिलती है। कुछ मृदभांडों में उत्कीर्ण और अंगुली छाप अलंकरण मिलता है। प्रमुख पात्र–प्रकारों में कटोरी, कलश तथा घुंडीदार ढक्कन इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अलावा कुचाई से गोल समन्तान्त वाली प्रस्तर कुल्हाड़ियों, फलकित कुदालें, छेनियांलोढे, गदाशीर्ष इत्यादि प्राप्त हुए हैं। पुरास्थल का सीमित पैमाने पर उत्खनन हुआ है इसकी वजह से यहाँ की आवासीय और खाद्यान्न व्यवस्था पर स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता है। यहाँ की नवपाषाण संस्कृति को लगभग द्वितीय सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व के अंतिम चरण में रखा जाता है।

8.6.2 दाओजली हैडिंग

यह पुरास्थल पूर्वोत्तर भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। दाओजली हैडिंग असम के उत्तरी कछार जिले में स्थित है। यहाँ पर गुवाहाटी विश्वविद्यालय के नेतृत्व में टी. सी. शर्मा के द्वारा उत्खनन करवाया गया,

जिसके परिणामस्वरूप 76 सेंटीमीटर मोटा नवपाषाणिक जमाव प्राप्त हुआ। इस जमाव से गोल और स्कंधित समन्तांत वाली ओपदार पस्तर कुल्हाड़ियां एवं हस्त निर्मित डोरी छाप मृदभांड प्राप्त हुए हैं। यहाँ से प्राप्त मृदभांड हस्तनिर्मित होने के साथ–साथ चाक पर बने हुए भी प्राप्त होते हैं। धूसर या भूरे रंग के मृदभांड हस्तनिर्मित है। इस प्रकार के मृदभांडों में प्रयुक्त मिट्टी भली–भाँति गुथी हुई है। लाल रंग के मृदभांड चाक पर बने हुए हैं। इनकी मिट्टी भी अपेक्षाकृत अच्छी तरह से तैयार की गई है तथा ये ठीक से पके हुए भी है। यहाँ से प्राप्त नवपाषाणकालीन उपकरणों में कुल्हाड़ियां, वसुली, छेनिया, खाँचेदार हथौड़े, सील–लोढे,मूसल इत्यादि प्राप्त हुए हैं। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर पूर्वोत्तर भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति को लगभग द्वितीय सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व के प्रथम चरण में रखा जाता है।

8.7 विन्ध्य क्षेत्र–कोलडिहवा, महगड़ा

8.7.1कोलडिहवा

कोलडिहवा पुरास्थल का भारतीय नव पाषाणिक संस्कृति के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस पुरास्थल से प्राचिनतम खेती के साक्ष्य की प्राप्ति हुई है, इस विशेषता की वजह से यह पुरास्थल विश्व पटल पर चमत्कृत है। विंध्य क्षेत्र में स्थित यह पुरास्थल नवपाषाण कालीन संस्कृति के इतिहास को समेटे हुए है। यह पुरास्थल इलाहाबाद (वर्तमान में प्रयागराज) जिले की कोरांवतहसील में नगर मुख्यालय से दक्षिण पूर्व दिशा में लगभग 85 किलोमीटर की दूरी पर बेलन नदी के बाएं तट पर स्थित एक छोटा सा गांव है। इस पुरास्थल को प्रकाश में लाने का श्रेय इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के बी. बी. मिश्र को है। इनके द्वारा सन् 1964 ईस्वी में किए गए पुरातत्विक अन्वेषण के फलस्वरूप कोलडिहवा पुरास्थल विद्वानों की नजर में आया। भारतीय पुरातत्व के लिए अमिट छाप छोड़ने वाले प्रोफेसर जी आर शर्मा के निर्देशन में सन 1972–73 एवं 1973–74 में बी.बी. मिश्र तथा रंजीत सिंह के द्वारा उत्खनन कराया गया। इसके पश्चात् सन् 1974–75 एवं 1975–76 में डी मण्डल तथा जे.एन. पाल के द्वारा उत्खनन कार्य किया गया। उत्खनन के परिणामस्वरूप यहाँ से तीन सांस्कृतिक कालों के साक्ष्य प्राप्त हुए है, जो निम्नवत् है–

1. नवपाषाणिक संस्कृति
2. ताम्रपाषाणिक संस्कृति
3. लौह कालीन संस्कृति

कोलडिहवा पुरास्थल विन्ध्य क्षेत्र का सबसे पहला पुरास्थल है जहाँ से विंध्य क्षेत्र

की नवपाषाणिक संस्कृति के बारे में जानकारी हुई। यहाँ की नवपाषाणिक संस्कृति का जमाव 45 सेंटीमीटर मोटा है तथा नीचे से चौथे तथा तीसरे स्तर इस काल से संबंधित है। इस स्तर से गोल समनतान्त वाली प्रस्तर कुल्हाड़ियां, गदा शीर्ष, हथौड़े एवं सिल–लोढेप्राप्त किए गए हैं। चर्ट, चाल्सेडनी अगेट, क्वार्टज आदि के बने हुए लघु पाषाण उपकरण भी इस स्तर से प्राप्त होते हैं।

यहाँ के नवपाषाणिक स्तर से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर आवासीय संरचना से संबंधित साक्ष्य स्पष्ट नहीं प्राप्त हुए हैं। उत्खनन से सरकंडों की छाप से युक्त जली हुई मिट्टी के टुकड़े मिले हैं जिससे यह इंगित होता है कि बांस–बल्लियों एवं घास–फूस से निर्मित झोपड़ियों में लोग निवास करते थे। यहाँ के लोगों का आर्थिक जीवन कृषि तथा पशुपालन पर निर्भर था। कोलडिहवा पुरास्थल से धान की खेती के साक्ष्य मिले हैं। इस काल के हाथ से बने मिट्टी के बर्तनों में धान के अधजले दाने भूसी तथा पुआल के टुकड़े चिपके हुए प्राप्त हुए हैं, जिनके विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यहाँ के लोग धान की खेती करते थे तथा गाय, बैल, भैस तथा भेड़ बकरी प्रमुख पालतू पशु थे। सुअर तथा हिरण आदि जंगली पशुओं का शिकार भी करते थे। छोटे–जीव एवं जलीय जीव जैसे कछुआ, मछली इत्यादि को खाने में प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यहाँ का मानव शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों था।

यहाँ के लोग मिट्टी के हस्त निर्मित बर्तनों का प्रयोग करते थे, जिसमे डोरी छाप मृदभांड, खुरदरे मृदभांड, चमकाए हुए लाल मृदभांड, चमकाए हुए काले मृदभांड प्रमुख हैं। प्रमुख पात्रो में छिछले और गहरे कटोरे, टोटीदार कटोरे तथा घड़े प्रमुख हैं। खुरदरे मृदभांड लाल रंग के हैं जिनके बाहरी भाग को जानबूझकर खुदरा बनाया गया है। इसमें कटोरे, छिछले तसले, तश्तरियां चौड़े मुँह की हांडियां तथा घड़े प्रमुख प्रकार हैं। बर्तनो की बाहरी सतहों पर आड़ी–तिरछी तथा अंगुष्ठ–नख डिजाइनों से अलंकृत किया गया है। यहाँ की नव पाषाणिक संस्कृति को मोटे तौर पर लगभग 7000 ईसा पूर्व से लेकर 4500 ईसा पूर्व के मध्य रखा जा सकता है।

8.7.2 महगड़ा

विंध्य क्षेत्र की नवपाषाण कालीन संस्कृति में महगड़ापुरास्थल का महत्वपूर्ण स्थान है। यह पुरास्थल इलाहाबाद जिले (प्रयागराज) की कोरांव तहसील के पहाड़ी क्षेत्र में बेलन नदी के दाहिने तट पर इलाहाबाद मुख्यालय से दक्षिण पूर्व दिशा में लगभग 85 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह पुरास्थल कोलडिहवा पुरास्थल से विपरीत दिशा में स्थित है अर्थात कह सकते हैं की बेलन नदी के बायें तट पर कोलडिहवा और दाहिने तट पर महगड़ा स्थित है। इस पूरा स्थल की खोज 1975–76 ईसवी में हुई। सन् 1976–77 और 1977–78 ईस्वी के बीच दो उत्खनन सत्रों में डी. मंडल तथा जे. एन. पाल ने प्रोफेसर जी आर शर्मा के निर्देशन में

करवाया।उत्खनन के उपरान्त यहाँ से 2.60 मीटर का सांस्कृतिक जमाव प्रकाश में आया है जिसे 17 स्तरों में विभाजित किया गया है। इस पुरास्थल से नवपाषाण कालीन संस्कृति के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जिनका विवरण निम्नवत हैं–

इस पुरास्थल के उत्खनन में डोरी छाप मिट्टी के बर्तन, खुरदरे तथा रगड़कर चमकाए गए मृदभाण्ड के टुकड़े प्रायः सभी स्तरों से मिले हैं। झोपड़ियों के साक्ष्य के रूप में फर्श और स्तम्भ गर्त प्राप्त हुए हैं। इस पुरास्थल पर कुल मिलाकर 20 झोपड़ियों के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जो गोलाकार अथवा अंडाकार है। इन झोपड़ियों का ब्यास औसतन 4.30 मीटर से 6.40 मीटर तक मिलता है। झोपड़ियों की फर्श से नवपाषाणिक प्रस्तर उपकरण, मृदभांड तथा पशुओं की हड्डियाँ प्राप्त हुई है। गाय, बैल, भैस, भेड़, बकरियां महगड़ा के लोगों के पालतू पशु थे और हिरण तथा जंगली सुअर इत्यादि का भी शिकार करते थे। महगड़ा की बस्ती के पूर्वी सिरे पर 12.5 x 7.5 मीटर के आयताकार पशुबाड़े के साक्ष्य मिले हैं, जिनमें पूर्व दिशा में दो और दक्षिण में एक, कुल तीन दरवाजे थे। पशुबाड़े की पहचान जानवरों के खुरों से की गयी है। कुछ विद्वान इसे पशु बाड़ा नहीं स्वीकार करते हैं।

महगडा से प्राप्त नवपाषाणकालीन उपकरणों में कुल्हाड़ियां, वसुली, छेनी, हथौड़ी, सिल–लोढे, गोफन पाषाण, चकरी का पत्थर तथा लघु पाषाण उपकरण हैं। इसके अलावा महागडा के मृदभांडों को बनाने में धान की भूसी, पुआल इत्यादि का प्रयोग हुआ है। इनके कार्बनीकृत अवशेष चिपके हुए मिले हैं, जो महगडा में निवास करने वाले मानव के द्वारा धान की खेती करने की ओर संकेत करते हैं। महगड़ा से सांवा के दाने तथा झरबेर की अधजली गुठलियां भी यहाँ से मिली है। महगड़ा के नवपाषाणिक साक्ष्यों को पांचवीं से चौथी सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व के आसपास का माना जाता है।

8.8 सारांश

उपयुक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नव पाषाणकाल, पाषाण काल का या प्रागैतिहासिक काल का अंतिम चरण था। यह वह चरण था, जिस काल में प्रागैतिहासिक अर्थव्यवस्था अपनी सर्वोत्कृष्ट स्थिति में थी। इस काल में मानव कृषि तथा पशुपालन का कार्य करने लगा था और अपने आवास का स्थायी निर्माण भी करने लगा। इसी के साथ–साथ शिल्पकारी और दस्तकारी के कार्यों को भी करने लगा था जिसके साक्ष्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों के पुरास्थलों से प्राप्त होते हैं। इस काल के उपकरण पाषाण के बने हुए थे, जिसमे कृषि उपयोगी उपकरण कुल्हाड़ी, वंसुली, छेनी, हथौड़ी सिल–लोढेइत्यादि थे। अतः हम कह सकते हैं की यह वह काल था जिस काल में मानव की वर्षों की भाग–दौड़ को स्थायित्व मिलता है और मानव प्रकृति में प्रदत्त संसाधनों का अपने अनुसार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रयोग करना शुरू कर देता है।

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वर्मा, ए0के0 1998. *नियोलिथिक कल्चर ऑफ इस्टर्न इण्डिया.* रामानन्द विद्या भवनः नई दिल्ली।
2. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
3. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
4. जायसवाल, विदुला .1992. *भारतीय इतिहास का नव प्रस्तर युग.* स्वाती पब्लिकेशनःदिल्ली।
5. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
6. वर्मा, बी0एस0 .2007. *चिरांद एक्सकेवेशन रिपोर्ट.* डाइरेक्टोरेट ऑफ आर्कियोलाजीः बिहार।
7. वर्मा आर0के0 2001. *भारतीय प्रागैतिहास.* परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।
8. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।
9. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
10. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.
11. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

8.10 बोध प्रश्न

1. भारत की नवपाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषता पर प्रकाश डालिए।
2. उत्तर भारत की नवपाषाणिक संस्कृति पर प्रकाश डालिए।
3. नव पाषाणिक अर्थव्यवस्था की विवेचना कीजिए।
4. नव पाषाणकालीन प्रमुख उपकरण प्रकार और तकनीकी की विवेचना कीजिए।

इकाई–9 दक्षिणी भारत–ब्रह्मगिरी, संगनकल्लु, उत्तनूर, पिकलीहाल, टी नरशीपुर, तेक्कलकोटा, हल्लूर, कुप्गल, पैयमपल्ली

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 दक्षिण भारत कीनवपाषाणिक संस्कृति

9.3.1 आवास

9.3.2 उपकरण प्रकार

9.3.3 मृदभाण्ड

9.3.4 कृषि और पशुपालन

9.3.5 शवाधान

9.4 ब्रह्मगिरि

9.4.1 नवपाषाण या नवपाषाण– ताम्रपाषाण

9.4.2 मेगालिथिक

9.4.3 प्रारंभिक ऐतिहासिक संस्कृति(आन्ध्र–सातवाहन)

9.5 संगनकल्लू

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.7 बोध प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

दक्षिण भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति का, भारतीय प्रागैतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह वह क्षेत्र था जिस क्षेत्र में सर्वप्रथम नवपाषाण कालीन संस्कृति के साक्ष्य प्राप्त हुए थे। दक्षिण भारत में नवपाषाण कालीन संस्कृति के साक्ष्य मुख्यतः राख के टीलों के रूप में प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के लिंगसुगुर नामक स्थान से 1842 ई0 में एम0 एच0 कृष्णा को पॉलिसदार कुल्हाड़ियाँ प्राप्त हुई थीं। इसके उपरान्त ही भारत के अन्य क्षेत्रों में नवपाषाणिक अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। राबर्ट ब्रुसफूट ने भी इस क्षेत्र के राख के टीले

को पशु आवास क्षेत्र बतलाया था। सन् 1947 ई0 तक इस क्षेत्र की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु सन् 1947 ई0 में मार्टीमर व्हीलर ने चित्तलदुर्ग जिले में स्थित ब्रम्हगिरि नामक पुरास्थल का विधिवत उत्खनन करवाया। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ा।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं के विषय में।
- नव पाषाणिक आर्थिक बदलावों के विषय में।
- उपकरण प्रकार एवं तकनीकी के विषय में।
- ब्रह्मगिरि पुरास्थल की नव पाषाणिक संस्कृति के बारे में।

9.3 दक्षिण भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति

दक्षिण भारत की नवपाषाणकालीन संस्कृति का भारत की नवपाषाणकालीन संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान हैं क्योंकि सर्वप्रथम दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के लिंगसुगुर नामक स्थान से 1842 ई0 में एम0 एच0 कृष्णा को पॉलिसदार कुल्हाड़ियाँ प्राप्त हुई थीं। इसके उपरान्त ही भारत के अन्य क्षेत्रों में नवपाषाणिक अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। राबर्ट ब्रुसफूट ने भी इस क्षेत्र के राख के टीलों को पशु आवास क्षेत्र बतलाया था। परन्तु सन् 1947 ई0 तक इस क्षेत्र की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सन् 1947 ई0 में मार्टीमर व्हीलर ने चित्तलदुर्ग जिले में स्थित ब्रम्हगिरि नामक पुरास्थल का विधिवत उत्खनन करवाया और वहाँ से तीन कालो के साक्ष्य प्रकाश में आए–

1. नव पाषाणकालीन संस्कृति
2. बृहत पाषाणिक संस्कृति
3. आन्ध्र सातवाहन संस्कृति
4. इन पुरास्थलों के उत्खनन के बाद दक्षिण भारत में नव–पाषाणकालीन संस्कृति के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध हो सकी । तब से लेकर आज तक कर्नाटक, आंध्रप्रदेश तथा तमिलनाडु में नवपाषाणकालीन संस्कृति से संबंधित बहुत से पुरास्थल प्रकाश में आए है। इन पुरास्थलों से प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर दक्षिण भारत की नवपाषाणकालीन संस्कृति को तीन उपकालो में विभाजित किया जाता है :

5. **प्रथम उपकाल** :– इसके अंतर्गत वे स्थान आते हैं, जहाँ से कुछ पॉलिसदार कुल्हाड़ियाँ, लघु पाषाण उपकरण, ब्लेड उपकरण, धुँधले अथवा काले रंग के हस्तनिर्मित–मृदभाण्ड, कुछ पालतू पशुओं की अस्थियाँ तथा राख के ढ़ेर मिले हैं। ऐसे स्थानों में ब्रम्हगिरि, मास्की, उत्तनूर पुरास्थलो के प्रथम स्तर आते हैं।

6. **द्वितीय उपकाल** :– इसके अंतर्गत उन स्थानो को रखा गया हैं, जहाँ पॉलिसदार कुल्हाड़ियाँ, लघु पाषाण उपकरण, धुएँ के रंग के चमकदार मृदभाण्ड तथा मिट्टी द्वारा लिपे हुए, बाँस–बल्लियो द्वारा निर्मित झोपड़ियों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इन स्थानो में संगनकल्लू तथा टेक्कलकोट्टा के पुरास्थल के प्रथम स्तर और पिकलीहल, ब्रम्हगिरि तथा हल्लूर पुरास्थलों के द्वितीय स्तर शामिल है।

दक्षिण भारत की नव–पाशाणकालीन संस्कृति

सर्वप्रथम लिंगसुगुर – 1842 – एम0 एच0 कृष्ण

पुरास्थल

कर्नाटक के स्थल–:

संगनकल्लू, कुपगल, टेक्कलकोटा (वेल्लारी जिले में)

ब्रम्हगिरि (चित्तलदुर्ग)

मास्की, पिकलीहल (रायपुर जिला)

हल्लूर (कर्नाटक) – (धारवाड़)

कोडेकल (गुलबर्गा)

टी नरसीपुर (बेल्लारी जिला)

आन्धप्रदेश के स्थल :–

उत्तनूर (महबूब नगर)

नार्गाजुनीकोण्डा (गून्ट्र)

पालवॉय (अनन्तपुर)

सिंगनपल्ली (कर्नूल)

तमिलनाडु के स्थल :–

पैयमपल्ली (अर्काट)

नदियाँ :– गोदावरी, तुंगभद्रा, कृष्णा, ताम्रपर्णी, कावेरी इत्यादि ।

विशेषताएँ :– जो निम्न है :–

1. नुकीले समनतान्त वाली पालिसदार प्रस्तर कुल्हाड़ी का प्रयोग

2. हड्डी पर बने उपकरण तथा लघु पाषाण उपकरण।
3. खाद्यान्न का उत्पादन–चना, मूँग, कुलथी, रागी
4. अलंकरणरहित मृदभाण्ड और अलंकरणयुक्त मृदभाण्ड
5. बाँस–बल्ली की झोंपड़ी एवं मिट्टी की बनी दीवाल वाले आवास
6. प"ुपालन–भेड़, बकरी, गाय, बैल, सुअर इत्यादि।
7. शवाधान और अस्थि कल"ा में शवो को दफनाने की प्रथा।
8. राख के टीले से प"ुबाड़े का अव"ोष।

उपकालें के साथ ताम्र उपकरण तथा पीले रंग की वगैर चमक वाले चाक से निर्मितमृदभाण्डों की प्राप्ति होती है इन प्राप्त अवशेषो के आधार पर दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के मानव के आवासीय ढ़ाँचा, उपकरण प्रकार, मृदभाण्ड, कृषि और पशुपालन इत्यादि पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

9.3.1 आवास :–

ब्रम्हगिरि, पिकलीहल, मास्की, संगनकल्लू टेक्कलकोट्टा इत्यादि पुरास्थलो से झोपड़ियो के निर्माण के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, यहाँ के निवासी बाँस तथा बल्लियों की सहायता से गोलाकार अथवा अण्डाकार झोपड़ियो का निर्माण करते थे। झोपड़ियो के फर्श को मिट्टी तथा गोबर से अच्छी तरह से लेपन किया जाता था तथा कभी–कभी चूने से पोताई के भी साक्ष्य मिलते हैं।

9.3.2 उपकरण प्रकार :–

दक्षिण भारत से प्राप्त नव–पाषाणकालीन उपकरणो में त्रिभुजाकार चमकीली कुल्हाड़ियाँ, बसुली, गैतियाँ, छेनियाँ, सिल–लोढ़े आदि विशेष उल्लेखनीय उपकरण प्रकार हैं। अधिकांश उपकरण बेसाल्ट पत्थर पर निर्मित हैं। लघु पाषाण उपकरणो में दाँतेदार, कुण्ठित ब्लेड, छोलनी, अर्द्धचांद्रिक, वेधक तथा समलम्ब चतुर्भुज आदि मुख्य है, जो चर्ट, चाल्सेडनी, जैस्पर तथा चमकदार पत्थरो से निर्मित हैं। कुछ पुरास्थलों से अस्थि के उपकरण भी मिले हैं। परन्तु उनकी संख्या अत्यन्त कम है।

9.3.3 मृदभाण्ड :–

दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के लोग हाथो द्वारा निर्मित मृदभाण्ड का प्रयोग करते थे । यहाँ से प्राप्त मृदभाण्ड धुएँ के रंग के अथवा लाल रंग के है। पकाने के पश्चात उस पर चित्रण किया जाता था। इस प्रकार के मृदभाण्ड़ो के टुकड़े ब्रम्हगिरि, मास्की तथा पिकलीहल इत्यादि पुरास्थलों से

प्राप्त हुए है, जिन पर बैगनी रंग से रेखाओं द्वारा चित्रण किया है। प्रमुख पात्रों में कटोरे, तस्तरियाँ, घड़े तथा बर्तनो के ढ़क्कन मुख्य हैं। बाद में चॉक पर बने मृदभाण्ड भी मिलने लगते हैं।

9.3.4 कृषि और पशुपालन :–

दक्षिण भारत में नव पाषाणिक पुरास्थलो से जो प्रमाण मिले हैं, उससे स्पष्ट है कि यहाँ के लोग कृषि से परिचित थे। टेक्कलकोट्टा तथा पैयमपल्ली से चना, मूँग, कुल्थी, रागी की खेती के साक्ष्य मिले हैं। ये लोग पशुपालन से भी पूर्ण परिचित थे। भेड़, बकरियों के अतिरिक्त गाय, बैल, भैंस तथा सुअर उनके मुख्य पालतू पशु थे। आँध्र प्रदेश के कई पुरास्थलो से राख के टीलों के उत्खनन से भी पशुपालन के प्रमाण मिले हैं। उत्तनूर पुरास्थल के राख के टीले के उत्खनन से पशुबाड़े का संकेत मिला है तथा उस बाड़े में अनेक पशुओ के पैरो के निशान मौजूद हैं।

9.3.5 शवाधान :–

दक्षिण भारत के नव पाषाणिक संस्कृति के स्तर से समाधियों के प्रमाण मिले हैं। मृत व्यक्ति को घर के अन्दर फर्श के नीचे अथवा घर के नजदीक बाहर दफनाया जाता था। समाधियों में स्त्री, पुरुष को सीधा लेटाया जाता था तथा उनके साथ अंत्येष्टी सामाग्री के रूप में मृदभाण्ड तथा उपकरण एवं जानवरो की अस्थियो को रखा जाता था। छोटे बच्चों को शव कलशो में रखकर दफनाया जाता था, पर उनके साथ किसी भी प्रकार की सामाग्री नहीं रखी जाती थी।

तिथि :– इस क्षेत्र के कई पुरास्थलो के पुरावशेषो से कार्बन 14 तिथि विधि द्वारा तिथि का निर्धारण किया गया है पैयमपल्ली, नागार्जुनीकोण्डा, संगनकल्लू, हल्लूर, टी–नरसीपुर, टेक्कलकोट्टा आदि पुरास्थलों के अवशेषों की तिथि 2500 ई0 पू0 से 1000 ई0 पू0 के बीच रखी गई हैं।

9.4 ब्रह्मगिरि

ब्रह्मगिरि भारत के कर्नाटक राज्य के चित्रदुर्ग जिले में स्थित एक पुरातात्विक स्थल है। कहा जाता है कि यह वह स्थान है जहां ऋषि गौतम और उनकी पत्नी अहल्या रहते थे। वह सात प्रसिद्ध ऋषियों (सप्तर्षि मंडलम) में से एक थे। इस स्थल की खोज सबसे पहले 1891 में बेंजामिन एल. राइस ने की थी, जिन्होंने यहां सम्राट अशोक के शिलालेखों की खोज की थी। इन शिलालेखों से संकेत मिलता है कि इसे'इसिला' कहा जाता था और यह मौर्य साम्राज्य की सबसे दक्षिणी सीमा को दर्शाता था। यह पुरास्थल लगभग 500 मीटर पूर्व–पश्चिम और 100 मीटर

उत्तर–दक्षिण में विस्तृत है। इसे बड़ी संख्या में पाए गए महापाषाण स्मारकों के लिए जाना जाता है। यहां पाई गई सबसे पुरानी बस्ती कम से कम दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व की बताई गई है।

1947 में मॉर्टिमर व्हीलर ने भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से इस स्थल की खोज की और खुदाई करवायी। इस स्थल की खुदाई 1956 में शेषाद्रि द्वारा और अमलानंद घोष द्वारा 1965 और 1978 में फिर से की गई। उत्खनन से मध्यकालीन पत्थर के मंदिर, मिट्टी के बर्तन, टेराकोटा के मोती और मूर्तियाँ, अर्ध–कीमती पत्थर और महापाषाण संरचनाएँ सामने आई हैं। यहा से माइक्रोलिथिक , नवपाषाण , लौह युग , मौर्य और चालुक्य तथा होयसल संस्कृतियों के भी साक्ष्य मिले हैं। अमलानंद घोष ने माइक्रोलिथिक संस्कृति का नाम रोपा गांव के नाम पर रोपा संस्कृति रखा, जहॉ से माइक्रोलिथिक उपकरण मिले थे। उन्होंने यह भी पता लगाया कि इस स्थल पर पाए गए नवपाषाण, पूर्व–महापाषाण काल में खेती–चरवाहा समुदायों द्वारा, इस स्थल को अपना आवास बनाया गया था। सन् 1947 ई0 में मार्टीमर व्हीलर ने चित्रदुर्ग जिले में स्थित ब्रम्हगिरि नामक पुरास्थल का विधिवत उत्खनन करवाया और वहाँ से तीन कालो के साक्ष्य प्रकाश में आए–

1. नवपाषाण या नवपाषाण– ताम्रपाषाण
2. मेगालिथिक और
3. प्रारंभिक ऐतिहासिक संस्कृति(आन्ध्र–सातवाहन)

ब्रह्मगिरि की पहचान 300 कब्रों के वृहदपाषाण समाधि स्थल के रूप में की गई थी, जिसमें आयताकार सिस्ट , सिस्ट–सर्कल (ग्रेनाइट सिस्ट के आसपास के पत्थर) और पिट–सर्कल के रूप में दफन थे। इन कब्रों में चित्रित बर्तन, पत्थर के मोती और लोहे और तांबे के उपकरण जैसी कलाकृतियाँ भी शामिल थीं।

9.4.1 नवपाषाण काल या नवपाषाण–ताम्रपाषाण काल

व्हीलर ने इस स्थल के काल को पहली सहस्राब्दी ईसा पूर्व से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की सीमा के भीतर बताया था। इस अवधि में पाई गई वस्तुओं में बड़ी संख्या में डोलेराइट से बनी पॉलिशदार पत्थर की कुल्हाड़ियाँ , अर्धचंद्र जैसे माइक्रोलिथ एवं जैस्पर , एगेट और कार्नेलियन से बने ब्लेड शामिल थे। मनुष्यों द्वारा पहने जाने वाले आभूषण जैसे कांसे की अंगूठियां और मैग्नेसाइट , एगेट और सीप के मोती और गोलाकार फूलदान, उथले कटोरे और टोंटीदार कटोरे जैसी आकृतियों वाले हस्तनिर्मित बर्तन भी पाए गए। इस काल में जिन शिशुओं की मृत्यु हो जाती थी, उनके शरीर को मोड़कर कलश में दफना दिया जाता था जबकि वयस्कों को गड्ढों में फैलाकर दफनाया जाता था।

9.4.2 मेगालिथिक

व्हीलर ने इस अवधि को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर पहली शताब्दी ईस्वी के मध्य तक का बताया। यह पाया गया कि इस अवधि के दौरान ब्रह्मगिरि में रहने वाले मनुष्यों ने हंसिया जैसे कृषि उपकरणों और भाले, तलवार और तीर–कमान जैसे हथियारों के लिए लोहे का उपयोग किया था। इस काल के मिट्टी के बर्तन अर्ध–गोलाकार गहरे कटोरे, कीप/ फनेल के आकार के ढक्कन, उथले बर्तन और तीन–पैर वाले बर्तन बनाए जाते थे। बर्तन तीन प्रकार के हैं:

- पॉलिश किए हुए काले और लाल बर्तन,
- पूर्ण–काले बर्तन, और
- चमकीले और मोटे मटमैले लाल बर्तन

इस काल में दफनाने का कार्य पत्थर के सिस्ट या खोदे गए गड्ढों में किए जाते थे जो एक वृत्त या संकेंद्रित वृत्त के आकार में व्यवस्थित शिलाखंडों से घिरे होते थे। कलशों में अंतिम संस्कार के बर्तन और लोहे के औजार और मोती जैसी वस्तुएं भी थीं।

9.4.3 प्रारंभिक ऐतिहासिक संस्कृति (आन्ध्र–सातवाहन)

व्हीलर ने इस काल को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर तृतीय शताब्दी ईस्वी के मध्य तक का बताया था। इस काल में तेज चाक का उपयोग करके परिष्कृत मिट्टी के बर्तन बनाए जाते थे। उथले बर्तन एवं कप और फूलदान जैसी आकृतियों को भी बनाया गया था, जिन्हें लाल रंग में लेपित किया गया था और सफेद रंग में ज्यामितीय डिजाइनों से चित्रित किया गया था। पाए गए आभूषणों में सीप, मिट्टी, हड्डियों, कांच और सोने की चूड़ियाँ और मैगनाइट, एगेट, कार्नेलियन और टेराकोटा के मोती शामिल हैं। ब्रह्मगिरि में हाल के पुरातात्विक अध्ययनों में मनुष्यों द्वारा निवास किए गए कई प्राकृतिक शिला आश्रयों की पहचान की गई है।

9.5 संगनकल्लू

नवपाषाण काल (लगभग 3000 ईसा पूर्व) का एक प्राचीन पुरातात्विक स्थल है। यह पूर्वी कर्नाटक में बेल्लारी से लगभग 8 किमी दूरी पर स्थित है। यह घोड़े की नाल के आकार की घाटी के दक्षिण में पहाड़ियों का एक समूह है, जिसके उत्तर में कुपगल है। 1,000 एकड़ में फैली यह दक्षिण भारत की सबसे पुरानी बस्तियों में से एक है । संगनकल्लू और कुपगल में लाल–भूरी जीवाश्म मिट्टी की एक परत फैली हुई है, जो 9000 ईसा पूर्व की मानी जाती है। यह स्थल नवपाषाणकालीन माना जाता है। फैक्ट्री स्थल की सतह की खुदाई के कारण बड़ी संख्या में मिट्टी के

बर्तन, पत्थर की कुल्हाड़ियाँ और अन्य पत्थर के उपकरण मिले हैं। इस स्थल की पहली बार बड़े पैमाने पर खुदाई 1946 में सन्नारसम्मा पहाड़ी पर बेंदापुडी सुब्बाराव द्वारा की गई थी। सुब्बाराव ने यहा की संस्कृति को 3 चरणों में विभाजित किया–

- प्री– मेसोलिथिक , वह चरण जब संगनकल्लू पहली बार बसा था, मिट्टी के बर्तन बहुत कम थे और लोग माइक्रोलिथ बनाते थे ।
- मेसोलिथिक , वह चरण जब मिट्टी के बर्तन हस्तनिर्मित होते थे और पत्थर की कुल्हाड़ियों का बड़े पैमाने पर निर्माण किया जाता था।
- नवपाषाण काल , वह चरण जब मिट्टी के बर्तन और उपकरण अधिक परिष्कृत हो गए।

इस उत्खनन में एक कमरे का नवपाषाणकालीन वृत्ताकार मकान खोदा गया। जिसकी दीवार बांस और मिट्टी से बनाई गई थी और फर्श गड्ढों से भरा हुआ था। घर के मध्य में एक चूल्हा था, और उसके जलने का प्रमाण मिलता है। घर की संरचना के अलावा, पक्षियों या बैल के आकार में कुछ टेराकोटा मूर्तियाँ और साथ ही पत्थर के उपकरण और मिट्टी के बर्तन भी पाए गए। जानवरों के अवशेष भी एकत्र किए गए, जिनमें से अधिकांश गाय की हड्डियाँ थीं।

संगनकल्लू में बसने वाले लोग शुरुआती कृषक थे, जो छोटे बाजरा और दालों की खेती करते थे । वे भेड़ें, मवेशी रखते थे और गोबर (राख के टीले) डालने के लिए अलग–अलग जगह रखते थे। यह अनुमान लगाया गया है कि ये राख के टीले संभवतः अनुष्ठानिक तरीके से गाय के गोबरढेर को जलाने से बने थे।

9.6 सारांश

उर्पयुक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है किदक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति का मानव चमकदार कुलहाड़ियो के साथ–साथ लघु–पाषाण उपकरण एवं अस्थि उपकरणों का भी प्रयोग करता था, तथा अपनी आजीविका के लिए कृषि के साथ–साथ पशुओं को पालतू भी बनाता था। खाद्यान्नो को संरक्षित करने के लिए हस्तनिर्मित मृदभाण्डो के साथ–साथ चाक निर्मित मृदभाण्डो का प्रयोग करता था तथा अपने मृतको को आवास के आस–पास कब्र को खोदकर दफनाता था। बच्चो का शव कलशो में दफनाया जाता था एवं शवाधानो के साथ अन्त्येष्ठी सामाग्री को रखने का भी प्रचलन था।इस काल के उपकरण पाषाण के बने हुए थे, जिसमे कृषि उपयोगी उपकरण कुल्हाड़ी, वंसुली, छेनी, हथौड़ी, सिल–लोढेइत्यादि थे। राख के टीलों से पशुपालन के साक्ष्य स्पष्ट होते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि इस काल के मानव का आर्थिक जीवन कृषि और पशुपालन पर निर्भर था एवं स्थायी जीवन जीना प्रारंभ कर दिया था।

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. जायसवाल, विदुला .1992. *भारतीय इतिहास का नव प्रस्तर युग.* स्वाती पब्लिकेशनःदिल्ली।
4. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
5. वर्मा आर0के0 2001. *भारतीय प्रागैतिहास.* परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।
6. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।
7. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

9.8 बोध प्रश्न

1. दक्षिण भारत की नवपाषाणकालीन संस्कृति की विवेचना कीजिए।
2. दक्षिण भारत की नवपाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषता पर प्रकाश डालिए।
3. नव पाषाणिक अर्थव्यवस्था की विवेचना कीजिए।

इकाई 10 पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ, बलूचिस्तान, सिंध और राजस्थान, हड़प्पा, कोटदीजी, कुल्ली, नाल, आमरी, क्वेटा, झोब, कालीबंगा

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ

10.4 बलूचिस्तान की पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ

10.4.1 क्वेटा संस्कृति

10.4.2 कुल्ली संस्कृति

10.4.2 आमरी एवं नाल संस्कृति

10.5 झोब संस्कृति

10.6 सिंध की पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ

10.6.1 कोट दीजी

10.6.2 आमरी

10.7 राजस्थान की पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ

10.7.1 कालीबंगा

10.8 सारांश

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.10 बोध प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

भारत एवं पाकिस्तान के जिन क्षेत्रों में कालान्तर में सिन्धु सभ्यता विकसित हुई उनके आस–पास के क्षेत्रों में उसके पूर्व ताम्रपाषाण काल की संस्कृतियों के पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं। काल–क्रम की दृष्टि से ये ग्रामीण संस्कृतियाँ सिन्धु सभ्यता की पूर्ववती मानी जाती हैं। सैंधव सभ्यता की पूर्ववर्ती ग्राम्य संस्कृति को प्राक्–सैंधव अथवा पूर्व हड़प्पा संस्कृति (Pre or Early Harappa) के नाम से जाना गया है। मुहम्मद रफीक मुगल ने इसको 'प्रारम्भिक हड़प्पा संस्कृति' के नाम से सम्बोधित किया है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पूर्व–हड़प्पासंस्कृति के पुरास्थलों के विषय में।
- क्वेटा, कुल्ली, नाल संस्कृति की प्रमुख विशेषताओ के विषय में।
- भारत की प्राक् सैन्धव संस्कृति की विशेषताओ के बारे में।

10.3 पूर्व–हड़प्पा संस्कृतियाँ –

भारत एवं पाकिस्तान के जिन क्षेत्रों में कालान्तर में सिन्धु सभ्यता विकसित हुई उनके आस–पास के क्षेत्रों में उसके पूर्व ताम्रपाषाण काल की संस्कृतियों के पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं। काल–क्रम की दृष्टि से ये ग्रामीण संस्कृतियाँ सिन्धु सभ्यता की पूर्ववती मानी जाती हैं। सैंधव सभ्यता की पूर्ववर्ती ग्राम्य संस्कृति को प्राक्–सैंधव अथवा पूर्व हड़प्पा संस्कृति (Pre or Early Harappa) के नाम से जाना गया है। मुहम्मद रफीक मुगल ने इसको 'प्रारम्भिक हड़प्पा संस्कृति' के नाम से सम्बोधित किया। दक्षिणी अफगानिस्तान, पाकिस्तान के बलूचिस्तान एवं सिन्ध प्रान्तों तथा उत्तरी राजस्थान के पुरास्थलों से इस तरह की संस्कृतियों से सम्बन्धित पुरास्थल ज्ञात हुए हैं। प्रमुख पुरास्थलों में दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित देहमोरासी घुण्डई, मुण्डिया, बलूचिस्तान प्रान्त में नाल, किल्ली गुलमुहम्मद, दम्ब सादात, पेरियानी घुण्डई, अंजेरा, नन्दर कुल्ली, मेही, पिराकदम्भ का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आम्री (आमरी) और कोटदीजी सिन्ध प्रान्त में स्थित हैं जो प्राक् हड़प्पा संस्कृति से संबंधित हैं। भारत में उत्तरी राजस्थान में स्थित कालीबंगा नामक पुरास्थल से पूर्व हड़प्पा संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

10.4 बलूचिस्तान की पूर्व हड़प्पा संस्कृतियाँ–

पुरातत्वविदों ने मृद्भाण्डों के आकार–प्रकार और उन पर प्राप्त अलंकरणों के आधार पर पूर्व हड़प्पा संस्कृति को अनेक क्षेत्रीय संस्कृतियों में विभाजित किया है। स्टुअर्ट पिगट महोदय ने बलूचिस्तान और सिन्ध की संस्कृतियों का वर्गीकरण मृद्भाण्डों पर अलंकरण के आधर पर दो वर्गों में विभक्त किया है–

1. पाण्डु रंग (Buff Ware) के मृद्भाण्ड वाली दक्षिणी क्षेत्र की संस्कृति

2. लाल रंग के मृद्भाण्ड वाली उत्तरी क्षेत्र की संस्कृति

पाण्डुरंग के संस्कृति का उपविभाजन निम्नवत् तीन स्थानीय संस्कृतियों में विभाजित किया गया है–

(अ) क्वेटा संस्कृति (Quetta Culture)

(ब) कुल्ली संस्कृति (Kulli Culture)

(स) आमरी एवं नाल संस्कृति (Amri and Nal Culture)

10.4.1 क्वेटा संस्कृति (Quetta Culture)

पाण्डु रंग (गुलाबी लिए सफेद रंग) के मृद्भाण्ड इस संस्कृति की विशिष्टता है। क्वेटा के आसपास के टीलों पर इस प्रकार के मृदभाण्ड प्रारम्भ में प्राप्त हुए। कालान्तर में मिस बैट्रिस दकार्दी ने कोटा के दक्षिण की ओर सिन्धु के मैदान तक इस प्रकार के मृदभाण्डों की खोज की जिन्हें कतिपय ग्राम विशेषताओं के कारण टोगाऊ नामक पुरास्थल के नाम पर 'टोगाऊ मृदभाण्ड' नाम प्रदान किया गया। किल्ले गुल मुहम्मद, दंब सादात, पिराक दंब, एडिथ शहर आदि इसके प्रमुख पुरास्थल हैं। पाण्डुरंग के मिट्टी के बर्तनों पर काले रंग (Black colour) से चित्रकारी की गई है। ज्यामितीय अलंकरण अभिप्राय मुख्य रूप से मिलते हैं। पशु–पक्षियों का चित्रण अभिप्राय न के बराबर है। प्रायः धीमे गति के चाक पर मृदभाण्डों का निर्माण किया गया है। प्रमुख मृद्भाण्ड प्रकारों में जामदानी (Beaker), कटोरे, छिछली थालियाँ आदि प्रमुख हैं। चर्ट पाषाण के ब्लेड, सिलखड़ी के प्याले हड्डी के बेधक एवं मातृदेवी की मूर्तियाँ आदि पुरावशेष प्राप्त होते हैं।

10.4.2 कुल्ली संस्कृति–

दक्षिण बलूचिस्तान के पाण्डु रंग के मृदभाण्डों की दूसरी प्रमुख संस्कृति को कुल्ली संस्कृति के नाम से सम्बोधित किया गया है। बलूचिस्तान के कोलावा जिले के कुल्ली पुरास्थल के आधार पर इनका नामकरण किया गया है। यहां पर आर एल स्टाइन महोदय ने अन्वेषण किया था। मेही इस संस्कृति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुरास्थल है। कुल्ली संस्कृति के मृद्भाण्डों का दो प्रमुख वर्गों में विभाजन किया जा सकता है–

1. कुल्ली मृद्भाण्ड तथा
2. हड़प्पा प्रकार के मृद्भाण्डों के साथ प्राप्त कुल्ली पात्र प्रकार

कुल्ली संस्कृति में कतिपय सारे एवं अधिकांशतः अलंकृत मृद्भाण्ड मिलते हैं। अलंकरण अभिप्राय काले रंग से संजोए गये हैं। इस संस्कृति के अलंकृत मृदभाण्डों की बाहरी सतह के ऊपरी हिस्से में वृक्षों से घिरे हुए दीर्घीकृत (Elongated) ककुदमान (Humped) वृषभ की एक विशिष्ट प्रकार की चित्रवल्लरी बनी हुई प्रायः मिलती है। बैल की आँखें एक वृत्त के माध्यम से निर्मित हैं और उसके पैरों के बीच में हिरणों, जंगली बकरों की छोटी–छोटी आकृतियाँ एक कतार

में बनी हुई हैं। अन्य अलंकरणों में पुष्प गुच्छ, तिकोन, लटकन, ओमेगा जैसे अभिप्राय उल्लेखनीय है। प्रमुख पात्र प्रकारों में जामदानी, बोतलनुमा पात्र, छिछली थालियाँ, साधारण तश्तरियाँ, छिद्रित पात्र, खड़ी वारी वाले कटोरे तथा मटकों की गणना की जा सकती है। साधारण तश्तरियाँ एवं बेलनाकार छिद्रित पात्र सैन्धव पात्र परम्परा के प्रभाव के द्योतक हैं। चर्ट के ब्लेड, सिल–लोढे, मिट्टी की चूड़ियाँ, मेही की एक कब्र से प्राप्त सिर–रहित स्त्री की आकृति से युक्त मूठ वाला ताम्र दर्पण आदि अन्य महत्त्वपूर्ण पुरावशेष हैं। विभिन्न आभूषणों से सजी–धजी कुल्ली की नारी की मृण्मूर्तियों को धड़ के नीचे चिपटा बनाया गया है तथा उनके हाथ केहुनी से मुड़े हुए हैं। इन मृण्मूर्तियों का निर्माण संभवतः धार्मिक प्रयोजन से किया गया था। आड़ी–तिरछी रेखाओं से अलंकृत कुकुदमान वृषभ मूर्तियां भी विशेष महत्वपूर्ण है।

कुल्ली संस्कृति के लोग अपने मकानों का निर्माण अनगढ़ पत्थरों से बिना गारे के सूखी चिनाई द्वारा करते थे। पत्थरों की दीवालों पर सफेद पलस्तर लगाने के प्रमाण भी मिले हैं। कमरों की रूपरेखा और सीढ़ियों के साक्ष्यों से इंगित होता है कि कुछ मकान दुमंजिले होते थे। मेही में मिट्टी की कच्ची ईंटों का प्रयोग मकान बनाने के लिए किया गया था।

कुल्ली संस्कृति में मृतकों के दाह संस्कार एवं दफनाने की प्रथा थी। कुल्ली पुरास्थल पर दाह संस्कार और मेही में दफनाने के प्रमाण मिले हैं। मेही में अस्थिकलशों के साथ ताँबे के दर्पण, मृद्भाण्ड, मृण्मूर्तियाँ ताँबे की दो पिनें प्राप्त हुई हैं।

10.4.3 आमरी–नाल संस्कृति :–

पाण्डु रंग के मृद्भाण्डों की तीसरी संस्कृति आमरी–नाल के नाम से प्रसिद्ध है। इस संस्कृति का प्रसार दक्षिण बलूचिस्तान से सिन्ध तक मिलता है। आमरी की खोज एवं सर्वेक्षणात्मक उत्खनन एन० जी० मजूमदार ने सन 1929 ई० में किया था। कालान्तर में जे० एम० कजाल ने सन् 1959–61 ई० में यहाँ पर अपेक्षाकृत विस्तृत पैमाने पर उत्खनन कराया जिसके परिणामस्वरूप पाँच कालों के विषय में जानकारी प्राप्त हुई। इनमें से प्रथम चार काल आद्य ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित हैं।

प्रथम काल को चार उपकालों में विभाजित किया गया है। प्रथम उपकाल के अधिकांश मृद्भाण्ड हस्तनिर्मित हैं। चाक निर्मित मृद्भाण्डों के आकार पतले हैं। काले रंग के ज्यामितीय अलंकरण अभिप्रायों में सिगमा, चेक, लटकन, हीरक तथा हिरण के सींग आदि की गणना की जा सकती है। साधारण तश्तरियाँ, हड्डी तथा चर्ट के उपकरण भी मिलते हैं। प्रथम उपकाल में भवन निर्माण में प्रयुक्त सामग्री के

विषय में साक्ष्य नहीं मिलते हैं।

द्वितीय उपकाल में अन्य वस्तुओं के साथ कच्ची ईंटों का प्रयोग कर मकान बनाने के लिए प्रयोग किया जाने लगा था।

तृतीय उपकाल आमरी के विकास का चरमोत्कर्ष का काल है। मृद्भाण्डों पर द्विरंगी या तिरंगी चित्रण मिलते हैं।

चतुर्थ उपकाल में बैल एवं मत्स्य शल्क डिजाइन का प्रयोग मिलता है। कतिपय सैंधव–पात्र प्रकार मिलते हैं।

द्वितीय काल में भी आमरी काल के मृद्भाण्ड चलते रहे लेकिन सैंधव मृद्भाण्डों की संख्या में वृद्धि दृष्टिगोचर होती है।

तृतीय काल सैंधव सभ्यता का है। तृतीय काल के प्रथम चरण में रक्षा प्राचीर के अवशेष मिले हैं। तृतीय काल के प्रथम तीन उपकाल सिन्धु सभ्यता से और चौथा उपकाल झुकर संस्कृति से सम्बन्धित है। इसका चतुर्थकाल झांगर संस्कृति से संबंतिधत है।

पश्चिमी बलूचिस्तान के कलात जिले में स्थित नाल नामक पुरास्थल की खोज और परीक्षाणात्मक उत्खनन भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण केएच० हारग्रीब्ज ने सन् 1925–26 में किया था। उन्होंने मुख्य रूप से नाल के समाधि क्षेत्र का उत्खनन कराया था। उत्खनन से ज्ञात हुआ कि नाल में विस्तीर्ण शवाधान (पूर्ण शवाधान) तथा आंशिक शवाधान का प्रचलन था। नाल में शवाधान पूर्व पश्चिम की ओर था। नाल के शवाधान मकानों के अन्दर फर्श पर बनाये गए थे। तीन कब्रों के चारों ओर कच्ची ईंटें लगाई गयी थीं। नाल के शवाधानों में अन्त्येष्टि सामग्री रखी गई थी जिसमें मृद्भाण्डों के अतिरिक्त ताँबे की वस्तुओं में कुल्हाड़ी, छेनी, छुरा, बंसूला तथा आरी आदि उल्लेखनीय हैं। पंजों में सर्प दबाए हुए गरुड़ की आकृति वाली सिलखड़ी की बनी हुई मुहर की गणना विशिष्ट पुरावशेषों में की जा सकती है। इनके अतिरिक्त पशुओं की हड्डियाँ भी मिली हैं।

नाल के मृद्भाण्ड पाण्डु या गुलाबी रंग के हैं, जिन पर दूधिये रंग की पट्टी मिलती है। बहुरंगी डिजाइनें, काले, लाल, दूधिया, नीले और पीले रंगों से बनाई गई हैं। इनमें से केवल लाल रंग पकाने के पूर्व और शेष रंग पकाने के बाद लगाए गए हैं। प्रमुख ज्यामितीय डिजाइनों में सिग्मा, कंधी के प्रतिरूप हीरक, प्रतिच्छेदी–वृत्त और जीव–जन्तुओं तथा पशुओं में मछली, बिच्छू, सांड, चीते एवं हिरण मिलते हैं। समाधि क्षेत्र के मृद्भाण्ड बहुरंगी हैं किन्तु आवासीय क्षेत्र 'डी' के मृद्भाण्ड बहुरंगी नहीं है। प्रमुख पात्र प्रकारों के अंतर्गत कटोरे, चित्रित बेलनाकार पेटिका और पेंदीदार पात्र मुख्य रूप से उल्लेखनीय है।

नाल में मकानों के निर्माण के लिए पत्थरों की दीवालें बनाई जाती थी। अनगढ़ तथा नदी से प्राप्त किये गये चिकने पत्थरों का प्रयोग भवन–निर्माण में किया जाता था। इस काल के आवासीय 'डी' क्षेत्र में बिना किसी क्रम या विन्यास के मकान बने हुए थे। नाल से प्राप्त अन्य पुरावशेषों में अगेट,कार्नेलियन, शंख और चूना पत्थर के बने मनके, ताँबे की ठप्पा वाली मुहरें तथा ताँबे के छिद्रित प्रस्तर उपकरण की गणना की जा सकती है। आमरी और नाल से पशु एवं नारी मृण्मूर्तियाँ नहीं प्राप्त हुई हैं।

10.5 झोब संस्कृति –

लाल रंग के मृद्भाण्डों पर काले रंग से सँजोये गये अलंकरण अभिप्रायों वाली झोब संस्कृति का प्रसार मुख्यतः उत्तरी बलूचिस्तान में झॉब नदी की घाटी तक सीमित होते हुए भी बोलन दर्रे के उत्तर–पश्चिम में स्थित पिशिनलोरलई तक दक्षिण की ओर मिलता है। झोव संस्कृति के प्रमुख पुरास्थलों में राना घुँडई, पेरिआनो घुंडई, सूरजंगल, डाबरकोट, कौदानी का उल्लेख किया जा सकता है। राना घुंडई और किल्ली गुलमुहम्मद के उत्खनन से ज्ञात पुरावशेषों के आधार पर इस संस्कृति की संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। ब्रिगेडियर रॉस द्वारा उत्खनित राना घुंडई से प्राप्त पुरावशेषों को स्टुअर्ट ने पॉच सांस्कृतिक कालों में नीचे से ऊपर की ओर विभाजित किया है।

प्रथम काल के पुरावशेषों में हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड, लघु पाषाणोपकरण, हड्डी की सुई, मवेशियों की हड्डियाँ उल्लेखनीय हैं। इस काल में मिले मृद्भाण्ड सादे हैं। यहाँ से मकानों के अवशेष नहीं मिले हैं।

द्वितीय काल में लाल रंग के चाक से बने हुए मृद्भाण्ड मिले हैं जिन पर काले रंग के कूबड़दार बैल और हिरण की आकृतियाँ बनी हुई है। इस काल में पेदीदार या बिना पेंदी के कटोरे प्रमुख पात्र प्रकार हैं। इस काल में मकान बनाने के लिए नींव में पत्थर लगाये गये थे। ईरान के हिसार नामक पुरास्थल से प्रथम काल से ज्ञात मृद्भाण्डों के समता के आधार पर चौथी सहस्त्राब्दी ई० पू० ईरान के प्रभाव की संभावना व्यक्त की गई है।

तृतीय काल के आवास एवं भवन के तीन चरण दिखाई देते हैं। इस काल में मृद्भाण्डों की लाल सतह पर लाल रंग से चित्रण की तकनीक प्रारम्भ हुई है। तृतीय काल का अंत संभवतः भयंकर आग्निकाण्ड के फलस्वरूप हुआ।

चतुर्थ काल सैन्धव संस्कृति के बाद का हैं। इस काल में अपरिष्कृत धूसर रंग के मृद्भाण्डों में बड़े आकार के कटोरे मिले हैं।

पंचम काल भी सैंधव संस्कृति के बाद का हैं। इस काल में मृद्भाण्डों के

चित्रण की परम्परा समाप्त सी हो गई और इसके स्थान पर उत्कीर्ण नक्काशी का प्रचलन हो गया।

यद्यपि राना गुंडई के उत्खनन से नारी और पशुओं की मृण्मूर्तियाँ नहीं मिली हैं तथा झोब संस्कृति के अनेक पुरास्थलों जैसे–पेरियानो गुंडई, सुरजंगल, मुगल गुँडई आदि से मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। झोब संस्कृति के अन्य पुरावशेषों में लघु पाषाणोपकरण, बाणाग्र, हड्डी और पत्थर के बने हुए मनके, हड्डी की चूड़ियों और सुइयों का उल्लेख किया जा सकता है। झोब संस्कृति के स्थलों से ताँबे के अवशेष भी मिले हैं। सुरजंगल, पेरियानो गुँडई और मुगल गुंडई के शवाधानों से ज्ञात होता है कि मृतकों को जलाने के बाद उनके अस्थि अवशेषों को मिट्टी के बर्तनों में भरकर दफनाने की प्रथा प्रचलित थी ।

10.6 सिन्ध की पूर्व हड़प्पा संस्कृतियाँ

बलूचिस्तान और दक्षिणी सिन्ध प्रान्तों में विकसित ग्राम्य संस्कृतियों के अतिरिक्त वर्तमान शताब्दी के पाँचवें छठवें दशकों में अन्य अनेक ऐसे पुरास्थलों की खोज सिन्ध, पंजाब तथा उत्तरी राजस्थान के क्षेत्रों में की गई है जहाँ पर सिन्धु सभ्यता के नीचे स्थित स्तरों से एक विशिष्ट प्रकार के पुरावशेष उत्खनन के द्वारा प्राप्त हुए हैं। इन पुरावशेषों का सम्बन्ध पूर्व हड़प्पा संस्कृति से जोड़ा जाता है। ऐसे पुरास्थलों में सिन्ध में आमरी एवं कोटदीजी का उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों स्थलों से प्राप्त पूर्व हड़प्पा संस्कृतियों का विवरण निम्नलिखित है–

10.6.1 कोटदीजी संस्कृति

कोटदीजी नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुरास्थल सिन्ध प्रान्त में मोहनडोदड़ों से लगभग 40 किमी० पूर्व में सिन्धु नदी के बायें तट पर स्थित है। सन् 1955 ई० में पाकिस्तान के पुरातत्व विभाग के निदेशक फजल अहमद ने इसकी खोज की और सन् 1955–58 ई० के मध्य यहां पर उत्खनन कराया। उत्खनन के फलस्वरूप यहाँ पर दो संस्कृतियों के अस्तित्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई–

(1) प्राक् सैंधव (कोटदीजी) संस्कृति

(2) सैंधव सभ्यता

कोटदीजी के उत्खनन से कुल सोलह स्तर प्रकाश में आये हैं जिनमें से नीचे के बारह स्तरों से प्राकृ–सैंधव, तेरहवें स्तर से संक्रमणात्मक सामग्री और शेष तीन स्तरों से सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। कोटदीजी की प्राक्–सैंधव संस्कृति का अन्त दो भंयकर अग्निकाण्डों से हुआ।

भली–भाँति तैयार मिट्टी के चाक पर बने, पतले एवं सुन्दर कोटदीजी से

प्राप्त मृद्भाण्डों की पृष्ठभूमि गुलाबी से लेकर लाल रंग की है। दूधिया रंग की स्लिप के ऊपर लाल, काले, भूरे एवं सफेद रंगों से बर्तनों की बारी तथा गर्दन के पास पट्टियाँ बनाई गई हैं और लहरदार रेखाओं को मिलाकर पात्रों पर अलंकरण बनाए गए हैं। इन्हीं से कालान्तर में मत्स्य–शल्क डिजाइन का विकास हुआ जिसका अंकन बाद में सैंधव पात्र–परम्परा में मिलता है। सींग वाले देवता की आकृति को छोड़कर पशुओं अथवा वनस्पतियों का अंकन नहीं मिलता है। प्रमुख पात्र प्रकारों में बिना बारी वाले तथा बारी से युक्त घड़े कटोरे, साधारण तश्तरियाँ आदि उल्लेखनीय हैं।

अन्य पुरावशेषों में चर्ट के ब्लेड, कतिपय पर्णाकार वाणाग्र (Leaf shaped arrowheads) प्रस्तर के सिल लोढ़े, गोफन पाषाण, मिट्टी एवं शंख की चूड़ियाँ तथा मृत्पिण्डों (Terracetta Cakes) आदि की गणना की जा सकती है। कुकुदमान साँड़ कीएक मृण्मूर्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है। ताँबे के प्रयोग के साक्ष्य अत्यल्प हैं। माणिक्य के बने हुए मनके नहीं प्राप्त हुए हैं।

भवनों का निर्माण अपेक्षाकृत योजनानुसार किया गया है। पत्थरों की नींव देकर कच्ची ईंटों से मकानों की दीवालें बनाई गयी थीं। बस्ती के चारों ओर सुदृढ रक्षा–प्राचीर का निर्माण किया गया था जिसके निचले भाग के निर्माण में चूना पत्थर के ढोकों का तथा ऊपरी हिस्से के निर्माण में कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया था।

10.6.2 आमरी संस्कृति

सिन्धु घाटी में विकसित संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिए आमरी का पुरातात्विक अध्ययन करना समीचीन है। आमरी के उत्खनन के परिणामस्वरूप यहाँ के चार कालों का क्रम मिलता है–

प्रथम 1 (अ)– इस काल में बिना किनारेदार हस्तनिर्मित एवं ज्यामितिक डिजाइन वाले मृद्भाण्डमिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में चाक निर्मित भाण्ड, चर्ट निर्मित चाकू एवं ताँबे के टुकड़े प्राप्त हुए हैं।

प्रथम 1 (ब)–आमरी के इस द्वितीय काल खण्ड में कच्ची ईंटों से निर्मित इमारतें, विविध डिजाइनें, सपीठ थालियाँ, हड्डी एवं चर्ट के निर्मित उपकरण मिले हैं।

प्रथम 1 (स)–इस कालखण्ड में चार संरचनात्मक तल हैं। संभवतः इस में श्रमिकों के आवास बने हुए थे। यह अभी तक प्राप्त सभी कालों में सर्वोत्कृष्ट है।

प्रथम 1 (द)–इस अल्पकालीन काल में बलूचिस्तान और अफगानिस्तान में पारम्परिक सम्बन्ध के प्रमाण मिलते हैं। डेल्स नामक पुराविद् ने इस काल में

अफगानिस्तान (मुण्डिगाक iv) से वास्तु–परक एवं मृत्तिका शिल्प से सम्बन्ध होने के प्रमाण प्राप्त किए हैं। इसके महत्त्व के सम्बन्ध में फेयरसर्विस ने ठीक ही मत व्यक्त किया है कि पीपल के पत्ते, बेंत के पत्ते (Willow Leaf), अतिव्यापी शल्क, रेखा छाया त्रिकोण प्रतिरूप (पैटर्न), पट्ट में बने मृग अथवा साकिन तथा आमरी–नाल बहुरंगी शैली, आमरी–नाल तथा हड़प्पा शैलियों के निकट सम्बन्धों की ओर इंगित करते हैं।

10.7 राजस्थान की प्राक् हड़प्पा संस्कृति

राजस्थान के इतिहास निर्माण में कालीबंगा के अन्वेषणों और उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों का विशिष्ट महत्त्व है। कालीबंगा के उत्खनन से उपलब्ध इमारतें, भवन, राजप्रासाद, बस्तियाँ, भग्नावशेष, मुद्राएँ, उत्कीर्ण लेख स्मारक आदि के माध्यम से जहाँ ऐतिहासिक कालक्रम के निर्धारण में यथेष्ट सहायता मिलती है, वही तत्कालीन जीवन पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। इस ऐतिहासिक उत्खनन के गहन सर्वेक्षण के आधार पर स्थापत्य एवं मूर्तिकला के साथ ही धार्मिक स्थिति की भी जानकारी प्राप्त होती है। राजस्थान में कालीबंगा के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण पुरास्थल हैं। उनमें थाहड़, नागौर, गिलुण्ड, सांभर, रेड, विराट आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ० गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार इनके उत्खनन से प्राप्त सामग्री विविध और विभिन्न निष्कर्ष निकालने में सहायक सिद्ध हुई है। अतः यह स्पष्ट है कि कालीबंगा के ऐतिहासिक उत्खनन विधि से राजस्थान के प्राचीनतम सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त होती है।

कालीबंगा की स्थिति स्पष्ट होने से राजस्थान की भौगोलिक स्थिति का सही रूप सामने आ सकता है। राजस्थान के गंगानगर जिले में दिल्ली से 310 किमी० उत्तर–पश्चिम कि दिशा में सूखी घग्घर नदी के किनारे कालीबंगा स्थित है। इस घग्घर नदी को प्राचीनकाल में सरस्वती नदी माना गया है जिसका वर्णन ऋग्वेद और पुराणों में मिलता है।

10.7.1 कालीबंगा

सुप्रसिद्ध पुराविद् अमलानन्द घोष ने सर्वप्रथम कालीबंगा के प्राचीन ऐतिहासिक टीलों का अन्वेषण किया था। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के श्री बी0बी0 लाल के कुशल निर्देशन में श्री बालकृष्ण थापड़, श्री एम० डी० खरे तथा श्री के० एम० श्रीवास्तव के सतत् प्रयास एवं सहयोग से 9 वर्षों तक उत्खनन कार्य किया गया। उत्खनन कार्य हेतु घग्घर (सरस्वती) नदी के दो टीले चुने गये जो 12 मीटर की ऊँचाई पर स्थित थे और जिनका क्षेत्रफल लगभग 1 '.या 2 किलोमीटर था। कालीबंगा के इन दोनों टीलों के उत्खनन से जो अवशेष प्राप्त हुए उनमें न

केवल प्राचीनतम हड़प्पा संस्कृति के बल्कि प्राक् हड़प्पा संस्कृति के भी भग्नावशेष सम्मिलित थे। अतः कालीबंगा के पुरातात्विक अध्ययन को करने के लिए सुविधा के दृष्टिकोण से प्राचीनतम संस्कृति को दो विभिन्न कालों में विभक्त किया जा सकता है–

1. प्रथम काल– प्राक् हड़प्पा संस्कृति युग तथा

2. द्वितीय काल– हड़प्पा सभ्यता का युग ।

प्रथम काल –

पूर्व हड़प्पा संस्कृति युगः कालीबंगा के पुरातात्विक उत्खनन में प्रथम काल में घग्घर नदी के पश्चिमी टीले के निचले स्तरों से प्राक् हड़प्पा संस्कृति के अनेक चिह्न प्राप्त हुए हैं। इस टीले का गहनता से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस युग में यहाँ की कच्ची ईंटों से निर्मित बस्तियाँ एक परकोटे के भीतर विद्यमान थीं। इस परकोटे का निर्माण दो विभिन्न कालों में किया गया। इस परकोटे की चौड़ाई 1.90 मीटर थी। कालान्तर में अन्दर की तरफ 3.70 मीटर से लेकर 4.10 मीटर तक चौड़ा किया गया। दोनों ही वास्तु–प्रकारों में ईंटों का आकार 20×30×10 सेमी. था। उत्तरी और दक्षिणी गुफाओं के मध्य परकोटे की लम्बाई 250 मीटर थी। परन्तु पूर्वी और पश्चिमी प्राचीरों के बीच की चौड़ाई अनुमानतः 180 मीटर आकलित की गई।

कालीबंगा के प्रसिद्ध टीलों के उत्खनन पर भवन–निर्माण के विषय में यथेष्ट जानकारी प्राप्त होती है। प्राक् हड़प्पाकालीन मकान कच्ची ईंटों से निर्मित किये जाते थे। इन ईंटों का वास्तविक आकार परकोटे में लगी ईटों के समान हैं। उत्खनन में कुछ पकी ईंटें भी प्राप्त हुई हैं जिसका एक सिरा मोटा और दूसरा सिरा पतला, फनी या फच्चर के आकार (Wedge Shaped) के समान है। कहीं–कहीं दीवारों पर लेप या पलस्टर की पपड़ियाँ भी लगी हुई मिली हैं। इससे ऐसा प्रतिभाषित होता है कि यहां के निवासी संभवतः दीवारों को सुन्दर एवं स्थायी बनाने के उद्देश्य से दीवारों में मिट्टी का लेप करते रहे होंगे। यहाँ उत्खनन में प्राप्त मकानों के पंक्ति बन्धन तथा ईंटों के आकार हड़प्पा काल के सदृश नहीं है।

पूर्वकालीन हड़प्पा संस्कृति के कुछ छोटे भवनों में एक विशाल ढलान तथा 4, 5 और 6 कमरे होते थे। इसके आगे चबूतरों का निर्माण किया जाता था। कमरे के फर्श कच्चे होते थे तथा उसमें स्वच्छता लाने के उद्देश्य से चिकनी मिट्टी से लीप दिया जाता था। मकानों के पक्के फर्श भी होते थे। मकानों की छतें परम्परानुसार मिट्टी तथा लकड़ियों की बल्लियों से बनायी जाती थीं। छतों को केवल घास–फूस से ढका जाता था। मकानों में गन्दे जल निकास हेतु एक गोलाकार भाण्ड होता

था। इस प्रकार की नालियों का निर्माण पक्की ईंटों से होता था। उत्खनन में चूल्हों के अवशेष भी मिले हैं जो सतह के ऊपर और नीचे बनाया जाता था। सतह के नीचे बने चूल्हे के लिए ईंधन देने तथा धुआं निकालने के लिए विशेष प्रकार के छिद्र रखे जाते थे, जो आजकल की चिमनी के सदृश रहे होंगे। छत पर प्रवेश हेतु सीढ़ियाँ निर्मित होती थीं। मार्ग की चौड़ाई 5 से 5.50 मीटर होती थी। सड़क पक्के बनते थे। कुओं के निर्माण में पक्की ईंटों का प्रयोग होता है।

कालीबंगा के उत्खनन के प्रथम काल में कृषि के प्राचीनतम अवशेष साक्ष्य के रूप में मिला है, जिसे पुरातत्व की महानतम उपलब्धि मानी जा सकती है। प्राक् हड़प्पा संस्कृति के दक्षिण–पूर्व की दिशा में परकोटे के बाहर जुते हुए खेत (Ploughed Field) उत्खनन में मिले हैं। इस खेत में दुतरफा जुताई के कारण हराइयों के निशान एक वर्ग जालक (Grid Pattern) के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर से दक्षिण की सीध में पड़ी हराइयाँ एक–दूसरे से 1.10 मीटर के अन्तर में थीं, इसी प्रकार पूर्व से पश्चिम की सीध में पड़ी हराइयाँ एक–दूसरे से 30 सेन्टीमीटर के अन्तर में थी। यहाँ दो फसलें एक साथ पैदा की जाती थीं।

कालीबंगा में पूर्व हड़प्पा संस्कृति के द्योतक मृद्भाण्ड का पुरातत्व की दृष्टि में प्रमुख स्थान था। उत्खनन के प्रथम काल के विभिन्न स्तरों में प्राप्त मृद्भाण्ड का अध्ययन करने से विशिष्ट कुम्हार कला का परिचय प्राप्त होता है। इन मृद्भाण्डों को पुरातात्विक दृष्टि से अलग–अलग समूहों में वर्गीकृत किया गया था, जिसका क्रमिक विवरण निम्नवत् हैं–

प्रथम समूह 'A' Fabric–

कालीबंगा में उत्खनन से प्राप्त मृद्भाण्ड के प्रथम समूह की Fabric 'A' नाम से सम्बोधित किया गया है। इस समूह के मृद्भाण्डों का रंग लाल या गुलाबी था। ये चाक की सहायता से निर्मित होते थे। अधिकांशतः ऐसे पात्र प्राप्त हुए हैं जिनके उपर गोलाईदार भाग में काले रंग का प्रयोग किया गया है। पात्रों के अलंकरण हेतु कभी कभी सफेद रंग का भी इस्तेमाल किया जाता था। सामान्यतः अलंकरण हेतु नाना प्रकार के चिह्न, पशु, पक्षी एवं वृक्षों के चित्रांकन भी पाये गये, जिनमें जालियाँ, लहरें, लम्बवत् रेखाएँ, वृत्तार्ध में तिरछी रेखाएँ, त्रिभुजाकार वर्ग, इकहरी या दुहरी पत्ती, पूँछ के सदृश दो सरीनुमा वृक्षों के बीच विच्छू की तरह दो जुड़े हुए कीडे, मकड़ी, चार पत्तीदार फल, गुच्छेदार फूल आदि उल्लेखनीय हैं। इस श्रेणी के पात्र सीमित मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। इनमें चुल्लेदार पैदी के कलश, पीठयुक्त कलश तथा संकरी मोहरी का कलश, सकोरे एवं गहरी कटोरियाँ प्रमुख हैं।

द्वितीय समूह 'B' Fabric-

कालीबंगा में उत्खनन से द्वितीय समूह के मृद्माण्ड की विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। इस श्रेणी के मृद्भाण्ड चाक पर निर्मित किये जाते थे। इन मृदभाण्डों के ऊपरी भाग पर लाल रंग का लेप किया जाता था तथा आड़ी लकीरें काले रंग से अंकित की जाती थीं। इनके निर्माण की कला कुछ भिन्न थी। पेंदे के अतिरिक्त इन पात्रों के शेष भाग को रेतीली मिट्टी के गारे से पोतकर किसी कठोर वस्तु से रगड़कर अधिक खुरदुरा बना लिया जाता था, जिससे चित्रांकन स्पष्ट रूप से हो सके। अतः पुष्प. पक्षी एवं पशु आदि की आकृतियों को काले रंग से बनाया जाता था। यहाँ उत्खनन में इस कला के आधार पर निर्मित वर्तुलाकार घड़े मिले हैं।

तृतीय समूह 'C' Fabric-

कालीबंगा में उत्खनन से प्राप्त तृतीय समूह के मृद्भाण्डों की पृथक विशेषताएँ मिलती हैं। इन श्रेणी के मृद्भाण्ड लाल एवं बैंगनी रंग के झांईदार होते थे। इसके पृष्ठभाग अधिक चिकने होते थे। उन पर लेप लगा रहता था। इसके अतिरिक्त इन पर अनेक प्रकार के चित्रांकन, यथा–आड़ी रेखाएँ, अर्द्धवृत्त, तिकोने, तितलियाँ, पेड़–पौधे आदि होते थे। इस समूह के स्तर में उपलब्ध अवशेषों में चपटे पेदे वाले घड़े सीधी किनारदार विशिष्ट हैं।

10.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राक् सिंधु संस्कृति एक ग्रामीण संस्कृति थी, जिससे नगरीय संस्कृति की ओर विकासमान थी। इस काल का मानव कृषि–पशुपालन के साथ–साथ वस्तुओं की लेनदेन के माध्यम से अपनी आजीविका चला रहा होता है। क्वेटा, कुल्ली, नाल, आमरी इत्यादि प्राक् सैंधव संस्कृतियों में देखा जाए तो मानव पाषाण की वस्तुओं के साथ–साथ धातु की वस्तुओं का प्रयोग करने लगा था, साथ ही साथ मिट्टी के बने हुए बर्तनों का प्रयोग भी करता था। मिट्टी के बने हुए मकान में निवास करता था। जल निकास एवं साफ सफाई की उत्तम व्यवस्था पर भी ध्यान दे रहा था। कलात्मक गतिविधियों में मृदभांड़ के ऊपर चित्रकारी, आभूषण इत्यादि का निर्माण भी करता था। अतः हम कह सकते हैं कि प्राक् सिंधु संस्कृति, ऐसी संस्कृति थी जो नगरीय संस्कृति की ओर अग्रसर हो रही थी अर्थात संस्कृति से सभ्यता की ओर बढ़ने के लक्षण को धारित किये हुए थी।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।

2. थपल्याल, के. के. एवं संकठा प्रसाद शुक्ल. 2011.*सिन्धु सभ्यता.*उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ।

3. सदार, श्री. पु. 2018. *सिन्धु घाटी सभ्यता का इतिहास.* सम्यक प्रकाशन।

4. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।

5. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।

6. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।

10.10 बोध प्रश्न

1. प्राक् सैन्धव संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. कालीबंगा के प्राक् हड़प्पन संस्कृति पर प्रकाश डालिये।
3. प्राक् सैन्धव संस्कृति के प्रमुख पुरास्थलों का विवरण दीजिए।

इकाई 11 प्रौढ/ विकसित हड़प्पा सभ्यता,परवर्ती हड़प्पा संस्कृतिः समाधि–एच, गांधार समाधि, कृ‘ ण–लोहित मृदभांड

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 हड़प्पा सभ्यता खोज का इतिहास एवं नामकरण

11.4 प्रौढ/ विकसित हड़प्पा सभ्यता

11.5 विकसित हड़प्पा सभ्यता की विशशताएं

11.6 परवर्तीहड़प्पा संस्कृति

11.7 समाधि एच

11.8 गांधार समाधि

11.9 कृष्ण–लोहित मृदभांड

11.10 पतन के कारण एवं तिथिकम

11.11 सारांश

11.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.13 बोध प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

हड़प्पन/सैन्धव सभ्यता के तीन चरण माने जाते हैं, प्रारंभिक हडप्पा संस्कृति, इसे पहले प्रायः प्राक् हड़प्पन संस्कृति के नाम से जाना जाता था। दूसरा प्रौढ़ हड़प्पन या विकसित हड़प्पा सभ्यता और तीसरा परवर्ती हड़प्पा सभ्यता। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि प्रारंभिक हड़प्पन संस्कृति से ही प्रौढ़ हड़प्पन सभ्यता विकसित हुई और यह एक देसज सभ्यता थी। पहले अधिकांश विदेशी विद्वान इसे एक विदेशी सभ्यता मानते थे। परवर्ती हड़प्पा सभ्यता, सिंधु सभ्यता का उत्तरवर्ती अथवा पतनोन्मुख चरण है। इस चरण तक आते–आते सिंधु सभ्यता के प्रमुख तत्वों में गिरावट आने लगी थी। जनसंख्या बढ़ने के कारण नगर नियोजन पूरी तरह से व्यवस्थित नहीं होने की वजह से अव्यवस्था का वातावरण दिखाई पड़ता है। आर्थिक स्थिति में भी गिरावट परिलक्षित होती है। व्यापार और वाणिज्य भी बाधित होता है क्योंकि जिन तत्वों की वजह से सिंधु सभ्यता की आर्थिक स्थिति

मजबूत थी, उन तत्वों के आधार जल मार्ग अवरुद्ध होने लगे थे। अतः हम कह सकते हैं की सिंधु सभ्यता का परवर्ती चरण वृद्धावस्था का चरण है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- प्रौढ / विकसित हड़प्पा सभ्यता की खोज का इतिहास एवं नामकरण।
- हड़प्पा सभ्यता की विशेषताएं– नगर–नियोजन आदि।
- परवर्तीहड़प्पासंस्कृति के विशेषताओ के विषय में।
- समाधि एच गांधार समाधि के विषय में।
- कृ'ण–लोहित मृदभांडकी विशेषताओ के बारे में।

11.3 हड़प्पा सभ्यता की खोज का इतिहास एवं नामकरण

पृथ्वी पर मानव के उद्भव के साथ ही जीवन जीने की गतिविधियाँ भी शुरू हो जाती है और इसी प्रक्रिया ने मानवीय संस्कृति को जन्म दिया। आगे चल कर सांस्कृतिक विविधता के साथ–साथ सभ्यताओं का उद्भव भी विश्व के कई क्षेत्रों में दिखाई देता है। भारत भी इससे अछूता नहीं था। भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण और विकसित सभ्यता का उद्भव हुआ जिसे सिंधु सभ्यता के नाम से जाना जाता है, जो कि विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सिंधु सभ्यता, सिंधु एवं उनकी सहायक नदियों की उपत्यकाओं में विकसित, पुष्पित एवं पल्लवित हुई। यह सभ्यता भारतीय उपमहाद्वीप की पश्चिमोत्तर भाग में स्थित भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान में उद्भूत हुई। इस सभ्यता का सर्वप्रथम खोजा गया पुरास्थल हड़प्पा था, इसलिए इसे हड़प्पा सभ्यता के नाम से भी संबोधित किया जाता है। यह पुरास्थल 1921 इस्वी में दयाराम साहनी के द्वारा खोजा गया और उत्खनन का कार्य भी करवाया गया। इसी क्रम में 1922 में राखलदास बनर्जी द्वारा मोहनजोदड़ो नामक पुरास्थल की खोज की गई और उत्खनन का कार्य भी प्रारंभ किया गया। क्रमशः जान मार्शल, माधोस्वरूप वत्स, यज्ञदत्त शर्मा, अर्नेस्ट मैंके, आर एस बिष्ट, एसआर राव इत्यादि विद्वानों के द्वारा समय समय पर सिंधु सभ्यता से संबंधित पुरास्थल खोजे गए और उत्खनन का कार्य करवाएँ गये। परिणामस्वरूप आज तक लगभग सिंधु सभ्यता के 1500 पूरा स्थल खोजे जा चूके हैं, जिनमे हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगां, लोथल, धौलावीरा, राखीगढ़ी, बनावली, रंगपुर, मिताथल, सुत्कागेनडोर इत्यादि महत्वपूर्ण है। बाद की खोज के परिणामस्वरूप ज्यादातर पुरास्थल प्राचीन सरस्वती नदी की घाटी में प्राप्त किए गए हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे सरस्वती सभ्यता अथवा सिंधु–सरस्वती सभ्यता का नाम सुझाया है।

11.4 प्रौढ / विकसित हड़प्पा सभ्यता

फेयरसर्विस का कहना है कि सिन्धु सभ्यता का विस्तार मुख्य रूप से गेहूं उपजाने वाले क्षेत्र सिंधु पंजाब और गुजरात में हुआ। दिल्ली के पूर्ववर्ती क्षेत्रो में, ताप्ती नदी के दक्षिण में चावल की उपज मुख्य रूप से होती है। इससे ऐसा लगता है कि सिंधु सभ्यता के धारकों ने ऐसे स्थलों को ही चुना जो गेहूं उपजाने के लिए उपयुक्त है। साधारणतया इस सभ्यता के विशाल और महत्वपूर्ण स्थल मैदानी क्षेत्र में ही हैं, जो निश्चय ही महान सभ्यता के विकास के लिए पर्वतीय क्षेत्र की अपेक्षा अधिक उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही इस सभ्यता के पास लगभग 1300 किलोमीटर का समुद्र तट था, जो समुद्री व्यापार के लिए उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान करता था। इसलिए सिंधु सभ्यता का आर्थिक जीवन कृषि के साथ–साथ व्यापार के ऊपर ज्यादा निर्भर था। इस सभ्यता से संबंधित पुरास्थलों के उत्खनन के परिणाम स्वरूप सिंधु सभ्यता के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। सिंधु सभ्यता को कालखंड और तत्वों में विकास क्रम के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया गया है–

1. प्रारंभिक / प्राक् सिंधु सभ्यता
2. विकसित सिंधु सभ्यता
3. परवर्ती सिन्धु सभ्यता

सिंधु सभ्यता के विकसित रूप से पहले जिन क्षेत्रों में सिंधु सभ्यता के पुरास्थल प्राप्त होते हैं उन्हीं क्षेत्रों के आसपास ताम्र पाषाण कालीन संस्कृति के पुरातत्विक साक्ष्य मिलते हैं। कालक्रम की दृष्टि से ये ग्रामीण संस्कृति या सिंधु सभ्यता की पूर्ववर्ती मानी जाती है। इन ग्रामीण संस्कृतियों को प्राक् सिंधु संस्कृति अथवा प्राक् हड़प्पा संस्कृति प्रायः कहा जाता है। प्राक् सिंधु सभ्यता के पुरास्थल दक्षिणी अफगानिस्तान, पाकिस्तान के बलूचिस्तान, पंजाब तथा सिंध प्रांत और भारत के उत्तरी राजस्थान से प्राप्त होते हैं। इन क्षेत्रों से प्राप्त प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के पुरास्थलों से प्राप्त साक्ष्य विकसित सिंधु सभ्यता से अपरिपक्व अवस्था में प्राप्त होते हैं।

11.5 विकसित हड़प्पा सभ्यता की विशशताएं

विकसित सिंधु सभ्यता का आधार प्रारंभिक सिंधु सभ्यता के तत्वों को माना जाता है क्योंकि जो तत्व प्राक् सिंधु सभ्यता में अपरिपक्व अवस्था में दिखाई पड़ते हैं वह विकसित अवस्था में अपने चरमोत्कर्ष पे होते हैं। विकसित सिंधु सभ्यता में नगर–नियोजन व्यवस्थित रूप से प्राप्त होता है तथा व्यापार–वाणिज्य के भी स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त होते हैं। इस सभ्यता के नगरों तथा गांवों के ध्वंसावशेष प्रायः टीलों के

रूप में मिलते हैं। आज कल नगरों को उनकी जनसंख्या के आधार पर अथवा किसी बस्ती को उसकी प्रति वर्ग किलोमीटर जनसंख्या के घनत्व के आधार पर नगर कहा जाता है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक गतिविधियाँ, कल कारखाने एवं अन्य सार्वजनिक महत्त्व की संस्थाएँ उनके स्वरूप का निर्धारण करती है। सिंधु सभ्यता के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि नगरों की जनसंख्या का अनुमान लगाया गया है। फेयर सर्विस नामक विद्वान का अनुमान है कि मोहनजोदड़ो की जनसंख्या लगभग 41,250 रही होगी। हड़प्पा की जनसंख्या 23,544 आंकी गई है। जनसंख्या संबंधी उपयुक्त आंकड़े अनुमान परख है। सार्वजनिक महत्त्व की विशिष्ट इमारतें लेखन कला के साक्ष्य आदि के आधार पर कांस्य काल की बस्तियों को नगर माना जा सकता है। इस सभ्यता के विकसित चरण में नगर निवेश, सुव्यवस्थित गृह निर्माण, सड़कों, जल निकास के लिए ढकी हुई पक्की नालियों की सुन्दर व्यवस्था, मूर्तिकला, मुहर निर्माण कला, विशिष्ट चित्राक्षर लिपि तथा मृद्भांड कला स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

नगर नियोजन सिंधु घाटी सभ्यता की एक प्रमुख विशेषता थी। सभ्यता की नगर योजना से पता चलता है कि ये लोग अत्यंत सभ्य एवं विकसित जीवन जी रहे थे। इस सभ्यता के शहरों को उचित योजना और एक निश्चित पैटर्न के साथ बनाया था। नगर नियोजन में विशाल स्नानघर, सड़कें, बंद जल निकासी प्रणाली, अन्न भंडार और इमारतें इत्यादि प्रमुख थे।

मोहनजोदड़ो की सबसे महत्वपूर्ण संरचना विशाल स्नानघर थी। उत्खनन से पता चलता है कि विशाल स्नानघर शहर के अंदर एक बड़ा आयताकार टैंक था। विशाल स्नानागार का फर्श बनाने के लिए पकी हुई ईंटों का उपयोग किया गया था। आधुनिक स्विमिंग पूल की तरह, इसका उपयोग विशेष अनुष्ठानों और औपचारिक स्नान के लिए किया जाता था। टैंक से पानी के रिसाव को रोकने के लिए इसे जिप्सम से लेपित किया गया था। टैंक के दोनों ओर सीढ़ियां बनाई गयी थी। वहाँ एक बड़ी नाली थी जिसका उपयोग पानी निकालने के लिए किया जाता था। विशाल स्नानागार के पास कमरे थे जिनका उपयोग सायद कपड़े बदलने के कमरे के रूप में किया जाता था।

सड़कें सीधी थीं और एक–दूसरे को समकोण पर काटती थीं। सड़कें शहर को आयताकार खंडों में विभाजित करने के लिए बनाई गई थीं और सड़को को बनाने पकी हुई ईंटों का प्रयोग किया जाता था। सड़कों पर कूड़ेदान पाए गए, जिसका मतलब था कि एक उत्कृष्ट नगर प्रशासन भी मौजूद था। इस सभ्यता की एक अनूठी विशेषता बंद जल निकासी प्रणाली थी, जो अधिकांश शहरों में पाई जाती थी। प्रत्येक घर में एक आँगन, एक स्नानघर और ऊर्ध्वाधर तथा क्षैतिज

नालियाँ होती थीं। रसोई और शौचालय की नालियाँ सड़कों की नालियों से जुड़ी हुई थीं। कालीबंगन के अधिकांश घरों में कुएँ थे। सड़कों पर भूमिगत नालियाँ थीं। इन नालों को ढकने के लिए पत्थर की पट्टियों का प्रयोग किया जाता था।

उत्खनन से पता चला कि शहर दो भागों में बंटे हुए थे, गढ़ी और निचला क्षेत्र। ऊँचे क्षेत्र छोटे थे और गढ़ी के थे। निचले क्षेत्र निचले शहर से संबंधित थे जिनके पास व्यापक क्षेत्र थे। अमीर लोग कई कमरों वाले बड़े घरों में रहते थे, जबकि गरीब लोगों के पास छोटे घर होते थे। महत्वपूर्ण इमारतों में आंगन जुड़े हुए थे। बड़े घर और सार्वजनिक भवन सड़कों पर स्थित थे। छोटे घरों में दो कमरे होते थे, जबकि महत्वपूर्ण घरों में कई कमरे होते थे। पुरोहित एवं उच्च वर्ग गढ़ी क्षेत्र में रहते थे। वहाँ एक विशाल ईंट की दीवार थी जो गढ़ और शहर को घेरे हुए थी। घरों की व्यवस्था ग्रिडों में होती थी और सड़कें एक–दूसरे को समकोण पर काटती थीं। लगभग सभी घरों में स्नानघर, कुएँ और ढकी हुई नालियाँ थीं और सड़क की नालियों से जुड़ी हुई थीं। सामान्य स्थानों पर न्यूनतम वेंटिलेशन था क्योंकि बाहरी दीवारों पर दरवाजे और खिड़कियाँ शायद ही कभी लगाई जाती थीं। बड़ी इमारतों में बड़े दरवाजे होते थे। सिंधु घाटी सभ्यता के घर पत्थरों के बजाय पक्की ईंटों का उपयोग करके बनाए जाते थे। हालाँकि, यह भी पाया गया कि धूप से सुखी हुई ईंटों का भी उपयोग किया गया था। मुख्यतः ईंटों आकार 1 : 2 : 3 के औसत में था। पकी हुई ईंटों का उपयोग इमारतों के उस हिस्से में किया जाता था जहाँ पानी का स्थान था। लकड़ी आसानी से उपलब्ध थी, जिसका अर्थ है कि पकी हुई ईंटों का उपयोग बड़ी मात्रा में किया जाता था। मिट्टी के गारे और जिप्सम सीमेंट के इस्तेमाल के भी प्रमाण मिले हैं। दरवाजों और खिड़कियों के चौखट लकड़ी के बने होते थे।

सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राप्त मृदभांड कुम्हार की चाक से निर्मित हैं। इन बर्तनों पर गाढ़ी लाल चिकनी मिट्टी से सुन्दर चित्र बनाये गए हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता में बर्तनों पर वृत्त, वृक्ष तथा मनुष्य की चित्रकारी देखने को मिलती है। सिन्धु घाटी सभ्यता में बड़ी संख्या में टेराकोटा (पकी हुई मिट्टी) की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। चहूंदड़ो और लोथल में मनके बनाने का कार्य किया जाता था। चहूंदड़ो से सेलखड़ी की मुहरें प्राप्त हुई हैं, बालाकोट और लोथल में सीप उद्योग स्थित था। मिट्टी के बर्तनों में एकरूपता थी, कई बर्तनों पर मुद्रा के निशान भी प्राप्त हुए हैं। संभवतः उन बर्तनों का व्यापार भी होता था।

सिन्धु घाटी सभ्यता में प्राप्त अधिकतर मृणमूर्तियाँ पकी मिटटी से बनी हैं। मिट्टी से बनी मूर्तियों का उपयोग खिलौने के रूप में किया जाता था, यह मूर्तियाँ पूजा की प्रतिमा के रूप में भी बनायीं जाती थी। मिट्टी से बनी मूर्तियों को मृणमूर्तियाँ कहा

जाता है। हड़प्पा संस्कृति में मनुष्य के अलावा पशु और पक्षियों, बैल, भैंसा, भेड़, बकरी, बाघ, सूअर, गैंडा, भालू, मोर, बन्दर, तोता, बतख और कबूतर की मृणमूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। मानव की मृणमूर्तियाँ ठोस हैं जबकि पशुओं की मृणमूर्तियाँ अन्दर से खोखली हैं। मोहनजोदड़ो, लोथल, कालीबंगा और चंहूदड़ो से धातु से बनी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।मोहनजोदड़ो से एक कांसे से बनी नर्तकी की मूर्ति प्राप्त हुई है, इसके गले में कंठहार है और हाथों में चूड़ियाँ व कंगन हैं।

मोहनजोदड़ो से पत्थर से निर्मित एक पुजारी की मूर्ति प्राप्त हुई है, इस मूर्ति की मूछें नहीं हैं परन्तु दाढ़ी है। मूर्ति के बांयें कंधे पर शाल बनायीं गयी है।इस मूर्ति की आँखे आधी खुली हुई हैं, निचले होंठ मोटे, और उसकी नजर नाक के अगले हिस्से पर टिकी हुई है। सिन्धु घाटी सभ्यता में एक संयुक्त पशु की मूर्ति भी प्राप्त हुई है, जिसका शरीर भेड़ का सिर हाथी का है। महाराष्ट्र के दैमाबाद से तांबे के रथ को चलाता मनुष्य, सांड, गैंडा और हाथी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

सिन्धु घाटी सभ्यता में लोग पत्थर के औजारों का काफी उपयोग करते थे, इसके साथ–साथ वे कई धातुओं से भी परिचित थे, इसमें कांसा धातु प्रमुख थी। ताम्बे और टिन के मिश्रण ने कांस्य धातु का निर्माण किया जाता हूँ। सिन्धु घाटी सभ्यता में कला व शिल्प काफी विकसित था, कई स्थानों से उत्तम कलाकृतियों की प्राप्त हुई है। सिन्धु घाटी सभ्यता में बर्तन का निर्माण, मूर्तियों का निर्माण व मुद्रा का निर्माण इत्यादि प्रमुख शिल्प थे।

सिन्धु घाटी सभ्यता में कांस्य कलाकृतियाँ, मृणमूर्तियाँ, मनके की वस्तुएं व मुहरें प्राप्त हुई हैं। मनकों का निर्माण कार्नेलियन, जैस्पर, स्फटिक, क्वार्टज, ताम्बे, कांसे, सोने, चांदी, शंख, फ्यांस इत्यादि का उपयोग किया गया था। सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग नाव निर्माण की कला भी जानते थे। औजार, हथियार, गहने व बर्तनों के निर्माण के लिए ताम्बा और कांसा धातु का इस्तेमाल किया जाता था। सिन्धु घाटी सभ्यता से फलक, बाट व मनके प्राप्त हुए हैं। मोहनजोदड़ो से हाथ से बुने हुए सूती कपडे का एक टुकड़ा मिला है। उत्तर प्रदेश के आलमगीर मिट्टी की नांद पर बुने हुए वस्त्र के चिह्न मिले हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता में नाव के उपयोग के साक्ष्य भी मिले हैं।

सिन्धु घाटी सभ्यता से काफी मात्रा में मुहरें प्राप्त हुई हैं, सिन्धु घाटी के अध्ययन में मुहरों की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। यहाँ से कई राज्यों व अन्य देशों की मुहरें प्राप्त हुई हैं। इन मुहरों से सिन्धु घाटी सभ्यता के विदेशी व्यापार और अन्य क्षेत्रों के साथ संबंधों के बारे में पता चलता है। सिन्धु घाटी से विभिन्न प्रकार की मुहरें प्राप्त हुई हैं, यह मुहरें बेलनाकार, वर्गाकार, आयताकार, और वृत्ताकार रूप में प्राप्त हुई हैं। यहाँ पर सिन्धु घाटी की मुहरों के अलावा उन क्षेत्रों की मुहरों भी

मिली हैं जिनसे सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग व्यापार करते थे। यहाँ पर मेसोपोटामिया और दिलमुन की मुहरें भी प्राप्त हुई हैं। यह मुहरें स्टेटाइट, फ्यांस, गोमेद, चर्ट और मिट्टी की बनी हुई हैं।

सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राप्त अधिकतर मुहरों पर अभिलेख, एक सींग वाला बैल, भैंस, बाघ, गैंडा, हिरण, बकरी व हाथ के चित्र अंकित हैं। इनमे सर्वाधिक आकृतियाँ एक सींग वाले बैल की हैं।मोहनजोदड़ो, लोथल और कालीबंगा से राजमुन्द्रक प्राप्त हुए हैं, प्राप्त मुहरें में से सर्वाधिक मुहरें चौकोर हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक अन्य मुहर पर पीपल की दो शाखाओं के बीच निर्वस्त्र स्त्री का चित्र अंकित है। सबसे ज्यादा मुहरें मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई हैं, इन मुहरों पर शेर, ऊँट और घोड़े का चित्रण नहीं हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर पशुपति शिव की आकृति बनी हुई है।

11.6 परवर्ती हड़प्पा संस्कृति

परवर्ती हड़प्पा सभ्यता, सिंधु सभ्यता का उत्तरवर्ती अथवा पतनोन्मुख चरण है। इस चरण तक आते–आते सिंधु सभ्यता के प्रमुख तत्वों में कमी होने लगी थी। जनसंख्या बढ़ने के कारण नगर नियोजन पूरी तरह से व्यवस्थित नहीं होने की वजह से अव्यवस्था का वातावरण दिखाई पड़ता है। आर्थिक स्थिति में भी गिरावट परिलक्षित होती है। व्यापार और वाणिज्य भी बाधित होता है क्योंकि जिन तत्वों की वजह से सिंधु सभ्यता की आर्थिक स्थिति मजबूत थी, उन तत्वों के आधार जल मार्ग अवरुद्ध होने लगे थे। अतः हम कह सकते हैं की सिंधु सभ्यता का परवर्ती चरण वृद्धावस्था का चरण है। इस चरण के साक्ष्य हड़प्पा, कालीबंगां, भगवानपुरा, रंगपुर, आलमगीरपुर इत्यादि पुरास्थलों से प्राप्त होते हैं। उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल में पांच भौगोलिक क्षेत्रों को रेखांकित किया जा सकता है सिंध और पश्चिमी पंजाब, घग्घर हाकरा पूर्वी पंजाब, हरियाणा, गंगा–यमुना दोआब तथा कच्छ व सौराष्ट्र। सिंध में उत्तर हड़प्पा सभ्यता को झुकर संस्कृति के नाम से जाना जाता है, जिसके प्रमुख केंद्र झूकर, चाहुंदारो तथा आमरी है। इस क्षेत्र में हड़प्पा सभ्यता काल से उत्तर हड़प्पा काल के बीच संक्रमण में एक निरंतरता देखी जा सकती है। मुहरों के स्वरूप में धीरे–धीरे परिवर्तन हुआ। घनाकार बटखरो की संख्या में कमी आने लगी तथा लिपि का प्रयोग मृदभांडों तक सीमित हो गया। मृदभांडो के विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट है कि सिंध की झूकर संस्कृति एवं लोथल और रंगपुर की उत्तर हड़प्पा कालीन संस्कृति के बीच आदान प्रदान होता रहा।

पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में और घग्घर हाकरा नदी घाटी में उत्तर हड़प्पा सभ्यता को समाधि–एच संस्कृति के रूप में जाना जाता है। इस क्षेत्र में जहाँ नगरीकरण के काल में 174 केंद्र थे। वहीं उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल में इनकी

संख्या घटकर 50 हो गई। उपरोक्त क्षेत्र के विपरीत गंगा यमुना दोआब में जहाँ परिपक्व हड़प्पा काल में मात्र 31 स्थल चिन्हित किए गए थे वहीं उत्तर हड़प्पा सभ्यता काल में इस क्षेत्र में इनकी संख्या बढ़कर 130 हो गई। इन बस्तियों का आकार भी छोटा था। किंतु कृषि आधार का विविधिकरण अत्यंत आकर्षक कहा जा सकता है। इसी प्रकार कच्छ और सौराष्ट्र में उत्तर हड़प्पा काल के प्रारंभिक काल में परिपक्व हड़प्पा काल की 18 बस्तियों के स्थान पर इनकी संख्या बढ़कर 120 हो गई। इस प्रकार यह कहा जा सकता है की गंगा–यमुना दोआब में और कच्छ एवं सौराष्ट्र के क्षेत्र में परिपक्व हड़प्पा काल में कम स्थल थे। जबकि परवर्ती हड़प्पा काल में बस्तियों की संख्या बढ़ गयी अर्थात् यह कहा जा सकता है कि उपयुक्त दोनों क्षेत्र मानव जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी थे। जिससे इस क्षेत्र में मानवी रहवास बढ़ता गया। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि पश्चिम से पूर्व और दक्षिण की ओर प्रवजन हो रहा था।

उत्तर हड़प्पा चरण में बड़े नगर लुप्त होने लगे थे। कुछ केंद्रों जैसे कुदवाला, बेट द्वारिका, दायमाबाद का नगरीय अस्तित्व था। दाइमाबाद और झूकर से कुछ वृत्ताकार सील मुहर तथा धौलावीरा के उत्तर हड़प्पा कालीन स्तर से प्रतीकांकन विहीन आयताकार सील मिले हैं। फारस की खाड़ी में प्रचलित तीन मुखों वाले जंतु एक आयताकार शंख का बना मुहर बेट द्वारका से पाया गया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तर हड़प्पा सभ्यता का कम से कम गुजरात में फारस की खाड़ी के क्षेत्र से संपर्क बना हुआ था। भगवानपुरा में उत्तर हडप्पा कालीन स्तर से उत्कृष्ट शिल्प कला के प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से 19 टुकड़ों पर ग्राफटी के अवशेष थे। पंजाब और हरियाणा में उत्तर हड़प्पा सभ्यता के आभूषण, अर्द्ध बेसकीमती पत्थरों के मनकें, टेराकोटा की गाड़िया, मृदभांड निर्माण में प्रयुक्त चूल्हे तथा अग्नि वेदिकाओं की प्राप्ति हुई है। उत्तर हड़प्पा सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कृषि के आधार का विविधीकरण और विशेषतः बलूचिस्तान के पिराक नामक स्थल से 172 फसलों को उगाने के प्रमाण मिले हैं। यहाँ जाड़े में गेहूं और जौ तथा गर्मी में चावल बाजरा और ज्वार उगाए जाते थे। उत्तर हड़प्पा सभ्यता में कच्छ के मैदान में बड़ी–बड़ी बस्तियां देखी जा सकती है तथा इस क्षेत्र में सिंचाई की सहायता से बड़े पैमाने पर अनेक फसलों की खेती की जा रही थी। हुलास में किए गए उत्खनन से भी फसलों के आकर्षक वैविध्य का अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ चावल,जौ, गेहूँ, ओट, ज्वार, बाजरा, मूंग, कुलथी, खेसारी, महुआ, मटर, मसूर, बादाम, नारियल और कपास उगाया जा रहा था।

11.7 समाधि–एच

सिंधु सभ्यता के एक महत्वपूर्ण पुरास्थल हड़प्पा से कब्रिस्तान के भी साक्ष्य प्राप्त

हुए हैं। सन् 1934 में माधो स्वरूप वत्स द्वारा हड़प्पा के उत्खनन के दौरान एक कब्रिस्तान प्रकाश में आया। जिसे 'समाधि एच' का नाम दिया गया है। मृतकों को दफनाने की विधा के आधार पर इस कब्रिस्तान के दो स्तर स्वीकार किए गए हैं। निचले धरातल से जो कब्रें मिली है उनमें मुर्दो को सांगोपांग पूर्व–पश्चिम अथवा उत्तर, उत्तर–पूर्व से दक्षिण–पश्चिम दिशा में चित लिटाया गया था। दो कब्रों को छोड़कर सभी के साथ चमकीले रंग के लेप वाले लाल मृदभांड मिले हैं। जिनमें काले रंग से बैल, बकरी, मोर, मछली, तारागण़, सीधी तथा त्रिभुजाकार रेखाओं और वृत्त के अंदर मानवाकृति आदि का चित्रण किया गया है। समाधि–एच के प्रमुख पात्र प्रकारों में प्याली आधार–रहित तश्तरियां, चिमटे, ढक्कन और बड़े–बड़े घड़े अथवा मटके प्रमुख हैं।

समाधि एच के दूसरे स्तर से अंत्येष्टि कलशों में आंशिक शवाधान से संबंधित लगभग 140 समाधियाँ मिली हैं। जिनमें से लगभग एक दर्जन कंकाल बच्चों के हैं जो मुड़ी हुई अवस्था में पूर्ण शवाधान है।कालक्रम का किंचित व्यतिक्रम होते हुए भी दोनों शवाधानों को एक ही संस्कृति का अंग माना गया है। इन शवाधानों से प्राप्त मृदभांड आकार–प्रकार एवं चित्रण अभिप्रायों की दृष्टि से संबंद्ध सभ्यता के मिट्टी के बर्तनों से मेल नहीं खाते हैं। गार्डन चाइल्ड की यह मान्यता थी कि इन समाधियों के निर्माता उन आर्य कबिलों से संबंधित थे जिन्होंने सिंधु सभ्यता का विनाश किया था।

जान मार्शल के अनुसार हड़प्पा समाज में अंत्येष्टि संस्कार की तीन विधियाँ प्रचलित थी–

- पूर्ण समाधिकरण
- आंशिक शवाधान तथा
- दाह संस्कार

डॉक्टर राजबली पांडेय का विचार है कि ऐसा जान पड़ता है कि शव को गाड़ने की प्रथा धीरे धीरे कम और दाहकर्म की प्रथा उत्तरोतर बढ़ रही थी। हड़प्पा नगर के दुर्ग क्षेत्र के दक्षिण में स्थित कब्रगाह 'आर–37' की खुदाई के समय पूर्ण समाधिकरण का साक्ष्य उपलब्ध हुआ है। इस प्रकार के अंत्येष्टि संस्कार में मृतकों के साथ श्रृंगार प्रसाधन, आभूषण, उपकरण, मृदभांड आदि दफनाए जाने की प्रथा थी। माधोस्वरूप वत्स तथा व्हीलर के निर्देशन द्वारा उत्खनन में 57 कब्रे प्रकाश में आई है। हड़प्पा के कब्रिस्तान के दो शवाधान विशेष महत्त्व की है। एक कब्र के किनारे पर चारों ओर कच्ची ईटें लगाई गई थी। दूसरी कब्र में शव को लकड़ी की पेटी में रखकर दफनाया गया था। काष्ट की होने के कारण यह पेटी नष्ट हो गई है किंतु उत्खनन में इसके चिन्ह मिट्टी पर धब्बे के रूप में दिखाई देते है। जिससे इसके आकार–प्रकार का भी ज्ञान होता है।

11.8 गांधार समाधि संस्कृति

यह संस्कृतिस्वात, गांधार, तक्षशिला के क्षेत्र में प्रचलित थी। इसे गांधार समाधि संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है। इसका कालखंड लगभग 1600 ईसा पूर्व से लेकर 200 ईसा पूर्व तक था। समाधि से प्राप्त अंत्येष्टि सामग्री के आधार पर इनकी विशेषताओ के बारे में जानकारी प्राप्त हुई है। इसमें उत्तरी ईरान से मिलते जुलते बर्तनों को भी रखा गया था। कब्र में मृण–मूर्तियां, मिट्टी के बर्तन, आभूषण इत्यादि को मृतकों के साथ रखा गया था। मृदभांडों के ऊपर साधारण ढंग से बिन्दु प्रकार का अलंकरण किया गया था। इस क्षेत्र की एक कब्र से घोड़े के अवशेष मिले थे। इसलिए इसे इंडो–आर्यन जाति से संबंधित माना गया है, जो संभवतः परवर्ती हड़प्पा चरण में इस क्षेत्र में आ चुके थे। यहाँ की अधिकांश कब्र में एक ही शव को दफनाया जाता था। आंशिक समाधिकरण में मृत शरीर को पशु–पक्षियों को खाने के लिए किसी निर्जन स्थान पर कुछ समय के लिए छोड़ दिया जाता था, बाद में इन शवों की अवशिष्ट अस्थियों को, मृतक की उपभोग्य वस्तुओं के साथ दफना दिया जाता था। मृतक संस्कार जिसे 'दाह–संस्कार' भी कहा जाता है इसके अंतर्गत शव को जलाने के बाद बचे हुए शरीर के अंश को एक छोटे पात्र में रखकर पुन उसे बड़े मुंहवाले पात्र में रखकर गाड़ दिया जाता था। इस प्रकार के अस्थि पात्र प्रायः घर की फर्श के नीचे अथवा आवास के निकट सड़क के किनारे जमीन में गड़े हुए प्राप्त किए गए हैं। इसके अतिरिक्त हड़प्पा से एक विशिष्ट समाधि प्राप्त हुई है जिसमें सात फुट लंबी तथा ढ़ाई फुट चौड़ी एक लकड़ी की पेटी में एक स्त्री के शव को रखकर दफनाया गया है। जिसे भारतीय भूमि पर ताम्र युगीन किसी विदेशी महिला का समाधिकरण बताया गया है। 'दजला–फरात' नदियों की घाटी से भी इस प्रकार की समाधियां मिली है। कुछ कलश शवाधान मोहनजोदड़ो से मिले हैं जिनमें पशुओं, मछलियों एवं चिड़ियों की कुछ हड्डियाँ, आभूषण, राख, कोयला तथा मृदभांडों के टुकड़े आदि भरे हुए प्राप्त हुए हैं। जॉन मार्शल तथा अर्नेश्ट मैके ने इन्हें प्रतीकात्मक समाधियाँ स्वीकार किया है।

11.9 कृष्ण–लोहित मृदभांड

भारतीय संदर्भ में जब से मिट्टी के बर्तन बनाने की परंपरा शुरू हुई है तभी से लाल रंग के बर्तन बनाने की परंपरा का प्रचलन दिखाई देता है बाद में इनके ऊपर काले रंग से चित्रण अभिप्राय भी किए जाने लगे। कृष्ण–लोहित मृदभांड, भीतरी सतह काले और बाहरी सतह लाल रंग वाले बर्तनों को कहा जाता है। इस प्रकार के मिट्टी के बर्तन लगभग प्रत्येक काल में दिखाई पड़ते हैं इसलिए इसे 'कालजयी मृदभांड' भी कहा जाता है। इन मृदभांडों के ऊपर बहुत बार काला और लाल रंग

एक ही सतह पर दिखाई पड़ते हैं अथवा एक पूरी सतह काली और लाल हो सकती है। काली और लाल मृदभांड को लाल पर काला मृदभांड जो शुद्ध रूप से हड़प्पा मृदभांड का प्रतिनिधित्व करता है, के समान नहीं माना जाना चाहिए। काला और लाल मृदभांड में आंतरिक और बाहरी सतह लाल हुआ करती थी और सतह के ऊपर काले रंग से अलंकरण किए जाते थे।

हड़प्पा से प्राप्त मृदभांड अधिकांशतः चाक पर निर्मित होते थे। हाथ से बने हुए बर्तन भी प्राप्त हुए हैं किंतु चाक पर निर्मित बर्तनों की अपेक्षा इनकी संख्या कम है। यह मुख्य रूप से निम्न स्तरों से उपलब्ध हुए हैं। अंतिम चरण में बर्तनों के निर्माण में ह्रास के लक्षण दिखते हैं। हड़प्पा सभ्यता के मृदभांड मुख्यतः लाल अथवा गुलाबी रंग के हैं। जिनके ऊपर लाल रंग का चमकदार लेप किया गया। कुछ विद्वानों को लाल रंग से पोत कर काली रेखाओं से चित्रण बनाए गए हैं। लाल लेप पर काले रंग से चित्रण की विधा की दृष्टि से ये उत्तरी बलूचिस्तान के राणा घुंडई तृतीय चरण से प्रेरित लगते हैं। चित्रित तथा सादे दोनों ही मृदभांड एक ही तरह की मिट्टी से बने हैं। कभी–कभी सफेद एवं हरे रंगों का प्रयोग भी किया गया है। बर्तनों को अच्छी तरह से पकाया जाता था बर्तनों में अनाज रखने के बड़े कोठीले, पानी के घड़े, सुराही, मर्तबान, कटोरे, प्याले, तसले और नांद, घुंडीदार ढक्कन, तश्तरियां, थालियाँ, छिद्रित पात्र, जामदानी इत्यादि प्राप्त हुए हैं। इन पर विभिन्न प्रकार के पशुओं के अलंकरण जैसे बकरा, हिरण, मोर, सारस, मछली, कछुआ, गाय, बछड़ा, मुर्गा तथा बनस्पतियों में पीपल, खजूर, नीम, केला आदि का अंकन सुंदरता पूर्वक किया गया है जो विशेष लोकप्रिय था। पर हड़प्पा सभ्यता के मृदभांड काले और लाल मृदभांड के समान पूर्णतः नहीं थे।

काले और लाल मृदभांड के पात्र अंदर से काला और बाहर से लाल होते थे। शायद ऐसा पात्र को उलटकर पकाने की प्रक्रिया से संभव होता था। जब पात्र को गर्म किया जाता था तो उसका बाहरी हिस्सा ऑक्सीजन की अवस्था के कारण लाल हो जाता था जबकि भीतरी हिस्सा अवकरण के कारण काला हो जाता था। एक दूसरी संभावना यह है कि इन पात्रों को दो बार गर्म किया जाता था अर्थात पहले उनको पकाकर लाल कर दिया जाता था और फिर उनको पुनः गर्म करने से उनकी सतह काली हो जाती थी या इसके विपरीत स्थिति होगी।

कृष्ण लोहित मृदभांड भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों से प्राप्त होते हैं उदाहरण के लिए चिरांद, पिकलीहल जैसे नवपाषानिक केंद्रों से, पूर्व हड़प्पा काल के लोथल से तथा गुजरात के बहुत सारे परिपक्व हड़प्पा काल के केंद्रों से यथा लोथल सुरकोटदा, रंगपुर, रोजदी तथा देसलपुर, इसके अतिरिक्त ताम्रपाषाण केंद्रों से विशेष रूप से मध्य और निचली गंगा नदी घाटी में यथा चिरांद पाण्डुराजारढीबी जैसे केंद्रों से आहाड/बनास संस्कृति, कायथा संस्कृति तथा जोर्वे संस्कृति, लौह युगीन चित्रित धूसर मृदभांड केंद्रों से यथा अतरंजीखेड़ा

हस्तिनापुर इत्यादि से, दक्षिण भारत के महापाषाणीय केंद्रों से जैसे ब्रह्मगिरि नागार्जुनकोंडा इत्यादि स्थानों से तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक स्तर से भी ऐसे मृदभांड प्राप्त हुए हैं। अतरंजीखेड़ा जैसे दोआब के कुछ केंद्रों तथा राजस्थान के नोह में गैरिक मृद्भांड संस्कृतियों और चित्रित धूसर मृदभांड के बीच काला और लाल मृदभांड का स्तर पाया गया है।

यह काला और लाल मृदभांड सभी एक जैसे नहीं हैं इनके बनाने की तकनीक इनकी बनावट और आकार में काफी विविधताएं हैं जो विभिन्न भौगोलिक स्थिति और कालक्रम के आधार पर अलग–अलग देखी जा सकती है। इस तथ्य से एक बात तो तय है कि काला और लाल मृदभांड किसी एक मृदभांड संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करता, न हीं किसी एक समुदाय अथवा शिल्पकार वर्ग या उपभोक्ता वर्ग से जुड़ा हुआ है, ना ही विभिन्न स्थलों और केन्द्रों से प्राप्त कृष्ण–लोहित मृदभांड के उदाहरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन क्षेत्रों के बीच किसी प्रकार की सांस्कृतिक समरूपता थी अथवा इनके बीच ठोस सांस्कृतिक संबंध था। इसलिए जरूरी है कि जब हम कृष्ण–लोहित मृदभांड की बात भारतीय पुरातत्व के संबंध में करते हैं तब उनकी प्राप्ति की विशिष्ट भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थिति का हवाला देना भी जरूरी होता है, ताकि इसके पहचान और महत्त्व को स्थापित किया जा सके।

इस परम्परा के प्रमुख पात्रों मे छोटे किनारो की छिछली थालियां, ऊँची बारी के कटोरे, घुण्डीदार ढक्कन, कड़े, मटके आदि थे।दक्षिण भारत की बृहद पाषाणिक समाधि और आवास क्षेत्रों से लोहे के बने हुए लगभग 33 प्रकार के उपकरण प्राप्त हुए है। प्रमुख उपकरणो मे चिपटी कुल्हाड़ियाँ, फावड़े, हंसिया, छेनी, बंसुले, चाकू, मछली पकड़ने की कटिया, वाणाग्र, तिपाई, घोड़े की लगाम, नाल, त्रिशूल, तलवारें, कटारें आदि हैं।

इस काल के लोग अपना जीवन यापन करने के लिए कृषि तथा पशुपालन करते थे यहां से धान, जौ, रागी, चना, आदि प्रकार के अनाजो का उत्पादन इन लोगों के द्वारा किया जाता था तालाबो से सिचाई की प्रथा सम्भवतः इस समय प्रचलित थी। पालतु पशुओं में गाय, बैल, भैस, घोड़े, भेड़ बकरी आदि थे। अतः कहा जा सकता है कि इस काल के मानव की अर्थ व्यवस्था का आधार कृषि और पशुपालन था।

11.10 सिन्धु सभ्यता के पतन के कारण

हड़प्पन अथवा सैन्धव सभ्यता के पतन का प्रश्न इसके उद्भव की भांति उलझा हुआ है। सैन्धव सभ्यता के विघटन के लिए अनेक कारणों को उत्तरदायी माना जाता है, इसमें मुख्य कारण है प्रशासनिक शिथिलता, जलवायु परिवर्तन, बाढ़, मलेरिया जैसी बिमारी, विदेशी व्यापार में गतिरोध, भूतात्विक परिवर्तन, बाह्य आक्रमण इत्यादि।

मोहन जोदड़ो के उत्खनन में ऊपरी स्तरों से जान मार्शल को विघटन के तत्व दिखाई पड़े थे। नगर प्रशासन में शिथिलता आ गयी थी। नागरिक स्तर गिरता जा रहा था। मकान बनाते समय सड़कों तथा नालियों का अतिक्रमण होने लगा था।

मकानों में पुरानी ईंटों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। दिवार कम चौड़ी बनने लगी थी। बस्ती का आकार सीमित हो गया था और स्वच्छता की व्यवस्था समाप्त हो गई थी।

विकसित हड़प्पा सभ्यता के काल में पर्याप्त वर्षा के साक्ष्य मिलते हैं लेकिन बाद में वर्षा में कमी हो गई। आरेल स्टाइन ने इसी आधार पर जलवायु परिवर्तन को हड़प्पन सभ्यता के पतन का कारण माना था। जान मार्शल और अर्नेस्ट मैके ने सिंधु नदी में बार–बार आने वाली बाढ़ को मोहनजोदड़ो के पतन का कारण माना। अर्नेस्ट मैके के अनुसार चाहूंदड़ो से भी बाढ़ की विभीषिका के साक्ष्य मिले हैं। सौराष्ट्र के लोथल और भगतराव से एस. आर. राव को भी बाढ़ के साक्ष्य से प्राप्त हुए हैं। के. ए. आर कनेडी ने मलेरिया के साक्ष्य कुछ मानव कंकालों में देखें। ऐसी महामारी भी इस सभ्यता के विनाश का कारण हो सकता है।

सिंधु सभ्यता का व्यापारिक संबंध मेसोपोटामिया की सुमेरियन सभ्यता से था। इस सभ्यता के अंतिम चरण में विदेशी व्यापार उत्तरोत्तर छिड़ होता जा रहा था और सिंधु सभ्यता का आर्थिक ढांचा कमजोर हो गया। भूतात्विक परिवर्तनों के साक्ष्य या संकेत करते हैं कि यह भी इस सभ्यता के विनाश के कारणों में से था।

बाह्य आक्रमण की बात मार्टिमर व्हीलर ने की थी लेकिन इसे अधिक मान्यता नहीं मिली अलग अलग क्षेत्रों में इसके विनाश के अलग अलग कारण हो सकते हैं।

11.11 सारांश

जैसे क्रमिक रूप से प्रौढ़ हड़प्पा सभ्यता का विकास हुआ, उसी तरह से धीरे–धीरे यह पतन की ओर अग्रसर हुई। लेकिन अपने लंबे जीवनकाल में यह एक उन्नत सभ्यता थी, जिसके विविध पक्षों नगर निवेश, सामाजिक–आर्थिक जीवन, धार्मिक स्थिति, कला आदि क्षेत्रों के बारे में जो साक्ष्य मिले हैं वे एक समुन्नत नगरीय सभ्यता का संकेत करते हैं।

परवर्ती हड़प्पा सभ्यता में, विकसित हड़प्पा सभ्यता के तत्वों में कमी आने लगी थी। अब मानव का जीवन यहाँ पर व्यापार और वाणिज्य के साथ साथ मुख्यतः कृषि और पशुपालन पर ज्यादा निर्भर होने लगा था। आवासीय क्षेत्र का स्थानांतरण पश्चिम से पूर्व की तरफ होने लगता है। जनसंख्या बढ़ने की वजह से नगर नियोजन पूरी तरह से व्यवस्थित नहीं रह पाया जिससे अव्यवस्था का वातावरण भी विद्यमान होने लगा था। इस चरण में सिंधु सभ्यता के अन्य तत्वों के साथ–साथ मृतकों को समाधिस्थ करने के साक्ष्य स्पष्ट रूप से मिलने लगते हैं। सिंधु सभ्यता के महत्वपूर्ण स्थल हड़प्पा से प्राप्त समाधि स्थल को समाधि एच का नाम दिया गया है। इन समाधियों से प्राप्त अंत्येष्टि सामग्रियों के माध्यम से इस चरण के तत्व उजागृत होते हैं। इन समाधियों से खाने–पीने की वस्तुओं के साथ प्रयोग किए जाने वाले मिट्टी के बर्तन और अन्य अस्त्र–शस्त्र भी प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार गांधार क्षेत्र से भी मृतकों को दफनाने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जिसे गांधार समाधि के नाम से जाना जाता है। हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों में कृष्ण–लोहित मृदभांड हैं इस प्रकार के मृदभांडों में अधिकांश चाक पर निर्मित है। प्राप्त मृदभांडों में अनाज रखने के कोठीले, पानी के घड़े, सुराही, मर्तबान, कटोरे, प्याले, तसले

और नाद, घुंडीदार ढक्कन, तश्तरियां, थालिया, छिद्रित पात्र, जामदानी इत्यादि प्राप्त होते हैं। प्राप्त वनस्पतियो और पशुओं के अवशेष के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि परवर्ती हड़प्पा सभ्यता के मनुष्यों का जीवन शाकाहार और मांसाहारी दोनों पर निर्भर करता था। साथ ही साथ छोटे जलीय जीवों का प्रयोग भी भोजन के रूप में किया जाता था। यह कहा जा सकता है कि यह चरण सिंधु सभ्यता के उत्तरोंतर पतन को दर्शाता है क्योंकि इस चरण के बाद सिंधु सभ्यता का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

11.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. थपल्याल, के. के. एवं संकटा प्रसाद शुक्ल. 2011. *सिन्धु सभ्यता.* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ।
3. सदार, श्री. पु. 2018. *सिन्धु घाटी सभ्यता का इतिहास.* सम्यक प्रकाशन।
4. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
5. जायसवाल, विदुला .1992. *भारतीय इतिहास का नव प्रस्तर युग.* स्वाती पब्लिकेशनःदिल्ली।
6. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
7. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।
8. वर्मा, राधाकान्त एवं नीरा वर्मा .2003. *पुरातत्त्व अनुशीलन*, भाग–2. परम ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद।
9. पाण्डेय, जय नारायण. 1986. *सिंधु सभ्यता*, प्रामानिक पब्लिकेशन, इलाहाबाद।

11.13 बोध प्रश्न

1. हड़प्पा सभ्यता की खोज का इतिहास और नामांकन की समस्या पर प्रकाश डालिए
2. हड़प्पन सभ्यता के विशेषताओं का वर्णन कीजिए
3. हड़प्पा सभ्यता के पतन के कारणों का विवेचना कीजिए
4. परवर्तीहड़प्पासंस्कृति के विशेषताओ पर प्रकाश डालिए।
5. समाधि एच एवं गांधार समाधि पर निबन्ध लिखिए।
6. कृ'ण–लोहित मृदभांडकी विशेषताओ की विवेचना कीजिए।

इकाई 12 ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ–कायथा, अहाड़, मालवा, जोर्वे

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ

12.4 कायथा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

12.4.1 आवास

12.4.2 मृदभाण्ड परम्पराएँ

12.4.3 उपकरण एवं अन्य पुरावशेष

12.4.4 पशुपालन–कृषि

12.4.5 कालानुक्रम

12.5 अहाड़ की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

12.5.1 आवास

12.5.2 पात्र परम्पराएँ

12.5.3 उपकरण एवं अन्य पुरावशेष

12.5.4 पशुपालन और कृषि

12.5.5 कालानुक्रम

12.6 मालवा ताम्र पाषाण कालीन संस्कृति

12.7 जोर्वे की ताम्र पाषाणकालीन संस्कृति

12.7.1 मृदभाण्ड परम्पराएं

12.7.2 उपकरण एवं अन्य पुरानिधियां

12.7.3 आवास

12.7.4 कृषि तथा पशुपालन

12.7.5 अन्त्येष्ठी संस्कार

12.8 सारांश

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.10 बोध प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

ताम्रपाषाणिक संस्कृति में पाषाण उपकरणों के साथ–साथ ताँबे के उपकरणों का प्रचलन था। इस संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी पिछले 50–60 वर्षो के अन्दर हुए विविध क्षेत्रों के उत्खन्न से हुई है। स्थूलतः मोटे तौर पर इस संस्कृति के दो रूप दिखाई देते हैं। एक तो वह जिसका प्रतिनिधित्व हड़प्पा संस्कृति करती है, जो शहरी प्रवृत्ति की थी। उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति में बहुत पहले से ही काँसे का प्रयोग शुरू हो चुका था। इसीलिए उसे कांस्य कालीन सभ्यता भी कहते है लेकिन इस सभ्यता में ताँबे और प्रस्तर उपकरणो का भी प्रयोग होता था। इन ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों का नामकरण उनकी क्षेत्रीय विशेषताओ या पुरास्थलो के नाम पर ही किया गया।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- हड़प्पेत्तर ताम्रपाषाणिक संस्कृति के विशेषताओ के विषय में।
- कायथा अथवा अहाड़ की ताम्रपाषाणिक संस्कृति के विषय में।
- मालवा और जोर्वे की ताम्रपाषाणिक संस्कृति की विशेषताओ के बारे में।

12.3 ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ

ताम्रपाषाणिक संस्कृति उस संस्कृति को कहते है। जहाँ पाषाण उपकरणों के साथ–साथ ताँबे के उपकरणो का प्रचलन था। इस संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी पिछले 50–60 वर्षो के अन्दर हुए विविध क्षेत्रों के उत्खन्न से हुई है। स्थूलतः मोटे तौर पर इस संस्कृति के दो रूप दिखाई देते है। एक तो वह जिसका प्रतिनिधित्व हड़प्पा संस्कृति करती है, जो शहरी प्रवृत्ति की थी उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति में बहुत पहले से ही काँसे का प्रयोग शुरू हो चुका था। इसीलिए उसे कांस्य कालीन सभ्यता भी कहते है लेकिन इसी सभ्यता में ताँबे और प्रस्तर उपकरणो का भी प्रयोग होता था। ताम्रपाषाणिक संस्कृति का दूसरा तथा वास्तविक रूप हड़प्पा सभ्यता के बाद के चरणों में ग्रामीण क्षेत्रो में दृष्टिगत होता है। ताँबा धातु से परिचित होने और उपयोग में लाने वाले मानव समुदाय विविध क्षेत्रो में नदियो के किनारे बसे और अपनी–अपनी ग्राम्य संस्कृतियो को विकसित करने लगे। इनकी अर्थव्यवस्था पशुपालन और कृषि पर आधारित थी और आवासीय व्यवस्था भी ग्राम्य जीवन जैसी थी लेकिन इनकी मृद्भाण्ड परम्पराएँ अलग थीं। इन ताम्रपाषाणिक संस्कृतियो का नामकरण उनकी क्षेत्रीय विशेषताओ या पुरास्थलो के नाम पर ही किया गया। भारत के विस्तृत क्षेत्रो में उत्खनित ताम्रपाषाणिक पुरास्थलो

के व्यापक अध्ययन से इन संस्कृतियो का निम्नलिखित् सांस्कृतिक अनुक्रम प्राप्त होता है–

1. कायथा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति
2. अहाड़ या बनास की ताम्रपाषाणिक संस्कृति
3. मालवा अथवा माहेश्वर–नवदाटोली की ताम्रपाषाणिक संस्कृति
4. जोर्वे/नेवासा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति

12.4 कायथा की ताम्रपाशाणिक संस्कृति :–

कायथा पुरास्थल मध्य प्रदेश में उज्जैन से 25 किलोमीटर दूर पूर्व दिशा में चम्बल नदी की सहायक काली सिंधु नदी की एक अन्य सहायक छोटी काली सिंधु नदी के किनारे स्थित है। प्राचीन साहित्य में सम्भवतः इसे 'कपित्थक' कहा गया है, जहाँ प्रकाण्ड ज्योतिषी एवं वृहतसंहीता के रचयिता वराहमिहिर का जन्म हुआ था। यहाँ की ताम्रपाषाणिक संस्कृति की खोज 1964 ई0 में वी0 एस0 वाकणकर ने की थी और 1965–1967 ई0 के बीच उन्होंने ही उत्खनन करके इसे प्रकाशित किया था। आगे चलकर विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन तथा दकन कालेज एण्ड पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्ट्टीयूट, पूणे के संयुक्त तत्वावधान में यहाँ व्यापक पैमाने पर खोदाई कराई गई, जिससे यहाँ के सांस्कृतिक क्रम की समुचित जानकारी प्राप्त हुई थी।

कायथा से 5 पुरातात्विक संस्कृतियो का पता चला है, इनमे प्रारम्भिक तीन ताम्रपाषाणिक है जबकि मनुष्य को लोहे का ज्ञान नहीं हुआ था। सबसे निचले स्तर पर मिलने वाले पुरावशेष ही कायथा संस्कृति से सम्बंधित है। डॉ0 वाकणकर ने सर्वेक्षण करके इस क्षेत्र के लगभग 40 पुरास्थलो को प्रकाशित किया है। फिर भी देखा जाये तो इन सबमें कायथा के पुरावशेष ही प्राचीनतम लगते है। कायथा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं का विवरण निम्नवत् है–

12.4.1 आवास :–

मध्य प्रदेश के इस क्षेत्र में वैसे तो विविध पुरास्थलो का उत्खनन हुआ है लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से यही लगता है कि कायथा संस्कृति के लोग ही यहाँ के ऐसे पहले निवासी थे जिन्होंने मकान बनाकर स्थायी रूप से रहना शुरू किया था। ऐसा संकेत मिलता है कि लोग बाँस बल्लियो या लकड़ी के लट्ठो को गाड़कर, बाँस की पट्टियो की दीवार बना लेते थे और फिर उस पर गाढ़ी मिट्टी थोपकर गोल या चौकोर मकान बनाते थे। इनकी छतें घास–फूस और

लकड़ी से बना करती थी। दीवारों को चिकना करने के लिए उस पर मिट्टी का महीन लेप भी लगा दिया जाता था।

12.4.2 मृदभाण्ड परम्पराएँ :–

इस संस्कृति में मिलने वाले मृदभाण्डो को कुशल कारीगरी का नमूना कहा जाता है। इन्हे चाक पर बनाया जाता था। यहाँ से प्राय तीन प्रकार की पात्र परम्पराएं दृष्टिगत होती है।

1. प्रथम प्रकार के मृदभाण्ड पतले और मजबूत है और इन पर भूरे या लाल रंग का लेप है। इनके ऊपर बैगनी रंग से चित्रकारी की गयी है। इस श्रेणी के पात्रो में अनाज रखने वाले बड़े–बड़े मटको के अलावा घड़ों, हाँड़ियों, तसलों, और कटोरों को शामिल किया जा सकता है।
2. दूसरे प्रकार के मृदभाण्ड भी पतले और सुन्दर आकार के बने थे ये पाण्डु (Buff) रंग के थे और इन्हें भी अच्छी तरह से गूथी हुई मिट्टी से निर्मित किया गया था। इन पर लाल रंग की चित्रकारी मिलती है। इस श्रेणी के मिलने वाले पात्रो में मध्यम आकार के घड़ों, तसलों और विशेषकर लोटों को शामिल किया जा सकता है। इन पर ज्यामीतीय डिजाइनों में प्रायः छल्ले, जालीदार हीरक तथा तिरछी रेखाएँ अंकित दिखाई देती हैं।
3. तीसरे प्रकार के मृदभाण्ड लाल रंग के अलंकरण रहित है। ऐसे पात्रो में तसले और कटोरे प्रमुख हैं। इन पात्रो पर कंघी जैसी वस्तु से सीधी रेखाएँ, लहरियाँदार रेखाएँ, जालीदार हीरक बनायी गई हैं।

कायथा संस्कृति के पात्रों पर मिलने वाले अलंकरण कालीबंगा, कोटदीजी एवं आमरी आदि पुरास्थलो से मिलने वाले प्राक्र हड़प्पन से सम्बंधित पात्रो में भी दिखाई देते है। लेकिन अन्तर केवल इतना है कि कायथा के पात्रो के अलंकरण अधिक गहरे नहीं हैं।

12.4.3 उपकरण एवं अन्यपुरावशेश :–

इस संस्कृति में ताँबे और काँसे का भी प्रचलन था। उत्खनन में यहाँ के मकान से एक घड़े में ताँबे की दो कुल्हाड़ियों की प्राप्ति हुई है। जिन्हे साँचे में ढाल कर बनाया गया था। इनके अलावा 28 चूड़ियां, अगेट और कार्नेलियन के क्रमशः 160 और 175 मनको वाले दो हार तथा ब्लेड, बेधक, चान्द्रिक तथा अन्य लघुपाषाण उपकरणों की प्राप्ति हुई है।

12.4.4 पशुपालन–कृषि :–

यहाँ के लोगो ने मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया था जिसमें पशुपालन और कृषि को पर्याप्त महत्व दिया गया था।यहाँ पर सभी उपयोगी पशुओ जैसे गाय, बैल, भैस, बकरी आदि को पाला जाता था। कायथा से घोड़ी की हड्डियों का मिलना भी महत्वपूर्ण है। यहाँ पर वर्षा भी पर्याप्त हुआ करती थी जिससे कृषि की अच्छी सम्भवनाएं थी। प्रायः गेहूँ और जौ की खेती होती थी।

12.4.5 कालानुक्रम :–

इस संस्कृति के प्रारम्भिक स्तरो से तीन रेडियो कार्बन तिथियाँ 2150±100 ई0पू0, 1685±100 ई0पू0, 1463±100 ई0पू0 प्राप्त होती है। इस आधार पर इस संस्कृति की तिथि को 2000–1800 ई0पू0 के बीच निर्धारित किया गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा पुराविदों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि जिन लोगो ने कायथा संस्कृति को व्यवस्थित किया था वे कायथा के मूल निवासी नही थे। बल्कि वे कही बाहर से अपनी उच्च तकनीकी ज्ञान को लेकर यहाँ आये होंगे और यहीं बस गये होगे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि किसी प्राकृतिक आपदा के कारण इस संस्कृति का पराभव (पतन) हुआ होगा क्योंकि कायथा और अहाड़ संस्कृतियो के स्तरो के मध्य में एक व्यतिक्रम दिखाई देता है।

12.5 अहाड़ की ताम्रपाशाणिक संस्कृति

राजस्थान में उदयपुर से 3 किलोमीटर पूर्व में अरावली की पहाड़ियों पर एक टीला है जिसकी लम्बाई 500 मीटर, चौड़ाई 275 मीटर, ऊँचाई 12.5 मीटर (साढ़े बारह मीटर) है। इस टीले को स्थानीय लोग 'धूलकोट' कहते है जबकि परम्पराओ में इसे 'ताम्रवती' कहा गया है। इसी के समीप से बनास की सहायक अहाड नदी बहती है। इस टीले का उत्खन्न डॉ0 रतनचन्द्र अग्रवाल ने राजस्थान के पुरातत्व विभाग की ओर से 1954–56 ई0 के बीच कराया था। जिससे एक विशिष्ट प्रकार की श्वेत चित्रित कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड(White Painted B.R.W.) परम्परा वाली ताम्रपाषाणिक संस्कृति की जानकारी हुई थी। आगे चलकर 1961–1962 ई0 में दकन कालेज एण्ड पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीट्यूट पूणे तथा आस्ट्रेलिया के मेलबोर्न विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में डॉ0 एच0 डी0 संकालिया के नेतृत्व में इस क्षेत्र का व्यापक उत्खनन कराया गया। उदयपुर से 72 किलोमीटर उत्तर–पूर्व में गिलुण्ड तथा 40 किलोमीटर उत्तर–पूर्व में बालाथल से भी इसी प्रकार के अवशेष मिले है। राजस्थान में जयपुर, अजमेर, चित्तौड़ के अलावा मध्यप्रदेश में उज्जैन और मन्दसौर सहित इस तरह के लगभग 50 पुरास्थल अब तक ज्ञात हो चुके है। चूँकि इस संस्कृति

की सबसे पहले जानकारी अहाड़ के उत्खनन से हुई थी, इसीलिए इसे अहाड़ संस्कृति कहा जाता है। चूँकि राजस्थान में इस संस्कृति से सम्बंधित अधिकांश पुरास्थल बनास और उसकी सहायक नदीयों की घाटी में स्थित मिलते हैं, इसी कारण इसे 'बनास संस्कृति' भी कहा जाता है।

अहाड़ संस्कृति के विविध पहलुओ का अध्ययन करने के लिए अहाड़, गिलुण्ड तथा बालाथल से प्राप्त अवशेषों को आधार बनाना पड़ता है।

12.5.1 आवास :–

इस संस्कृति में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के भवन देखने को मिले है। छोटे भवन 10'x 7' तथा 22'x 17' आकार के है। जबकि गिलुण्ड में 30'x 15' आकार के भवन मिले है। यहाँ 100'x 80' आकार के एक बड़े भवन का अवशेष मिला है जिसमे कच्ची ईटों का प्रयोग हुआ था। इसकी लगभग 33' की एक दीवार में 35 सेमी0 x 15 सेमी x12.5 सेमी0 आकार की पक्की ईटो का प्रयोग भी हुआ है, जो विशेष आकर्षण की बात है।भवनों की नीव में पत्थरो का तथा दीवारो में मिट्टी या कच्ची ईटों का प्रयोग होता था। इसकी छते बाँस बल्लियों तथा घास–फूस से बनायी जाती थी। अहाड़ और बालाथल के कुछ घरो से चूल्हे भी मिले है। कुछ चूल्हे तो बड़े आकार के है। अहाड़ से एक ही पंक्ति में 6 चूल्हे बने मिले है, हो सकता है कि इनका उपयोग ताँबा निर्माण उघोग में किया गया हो। कुछ मकान में सिल–लोढ़े की प्राप्ति हुई है।

12.5.2 पात्र परम्पराएँ :–

इस संस्कृति में विविध प्रकार की पात्र परम्पराओ का प्रचलन था, जिन्हे 7 वर्गो में विभक्त किया गया। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण निक्षेप को अ, ब, स उपकालो में वर्गीकृत करके इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

अहाड़ के 'अ' उपकाल के स्तर से श्वेत रंग से चित्रित कृष्ण लोहित मृद्रभाण्ड (White Painted B.R.W.),B.R.W.,पाण्डुरंग के मृदभाण्ड (Buffware), लाल रंग के मृदभाण्ड,(R.W)तथा चित्रित धूसर मृद्रभाण्ड(P.G.W.) के रूप में 5 प्रकार की मृदभाण्ड परम्पराएं दृष्टिगत होती है। इस तरह के पात्रो में घड़े, तसले, कटोरे, आधारयुक्त तश्तरियाँ तथा शादी तश्तरियाँ प्रमुख है। White Painted Black and Red Ware इस स्तर के अलावा अन्य उपकालो में देखने को नहीं मिलता है।

अहाड़ के 'ब' उपकाल के स्तर से B.R.W., R.W, P.G.W के अलावा प्रस्तर मृदभाण्डो का प्रचलन भी दिखाई देता है। इस तरह के पात्रों में थालियाँ, कटोरे,

कोखदार कटोरे, आधारयुक्त कटोरे तथा तश्तरियाँ प्रमुख हैं।

अहाड़ के 'स'उपकाल से प्रस्तर पात्र नहीं मिलते है। इस स्तर से B.R.W. के साथ–साथ लाल रंग के चमकदार पात्र (Glazed Red ware) मिलते हैं। इन पात्रो पर लहरियादार रेखाएँ, बिन्दू समूह, हीरक तथा सितारो जैसे अलंकरण दिखाई पड़ते है।

12.5.3 उपकरण एवं अन्य पुरावशेष :–

अहाड़ के पास खेतड़ी से ताँबे की आसानी से प्राप्ति हो जाया करती थी, इसीलिए इसका उपयोग चाकू, कुल्हाडी, छल्लो, चूड़ियो के निर्माण में हुआ था। शायद इसीलिए यहाँ से लघुपाषाण उपकरणो की प्राप्ति अपेक्षाकृत कम हुई है। डॉ0 रतन चन्द्र अग्रवाल ने अहाड़ से 12 किलोमीटर दूर मतून और उमरा नामक स्थानो से ताँबा गलाने का साक्ष्य ढूढ़ निकाला है।

अहाड़ तथा गिलुण्ड से विविध ज्यामीतीय डिजाइन तथा पशु आकृतियो से युक्त मनके मिले हैं। इनके अलावा लम्बे सींग वाले बैलों की मृण मूर्तियाँ तथा तरह–तरह के सिर वाले गोटे प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक पर तो भेड़ के सिर की आकृति बनी है। इस तरह के गोटे हड़प्पा संस्कृति में दिखाई देती हैं।

12.5.4 पशुपालन और कृषि :–

इस संस्कृति के लोग भी पशुपालन और कृषक थे। पशुओ में प्रायः गाय, बैल, भैस, बकरी, सुअर इत्यादि उपयोगी पशुओ को पाला जाता था। जंगली पशुओ में हिरण, नीलगाय, जंगली सुअर आदि के शिकार करने का भी प्रमाण मिलता है। अहाड़ से मिले कुछ मृदभाण्डो में धान के अधजली भूसी, पुआल आदि की प्राप्ति हुई है, जिन्हें देखकर स्पष्ट है कि यहाँ लोग धान की खेती किया करते थे। इसके अलावा बालाथल से गेहूँ, जौ, धान, मूंग, चना जैसे अनाजो की खेती किये जाने के साक्ष्य है ।

12.5.5 कालानुक्रम :–

ताम्रपाषाणिक संस्कृतियो में कायथा के पश्चात अहाड़ संस्कृति को रखा जा सकता है कायथा से जो तीन ताम्रपाषाणिक संस्कृतियो के प्रमाण मिले है, उनमें सबसे नीचे कायथा, उसके ऊपर अहाड़ तथा सबसे ऊपर मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों से सम्बंधित साक्ष्य दृष्टिगत हुए है। अहाड़ के White Painted B.R.W. पात्र कायथा पात्रो के ऊपर हैं। मालवा से जिस तरह के साक्ष्य मिले है उनमें White Painted B.R.W. के ऊपर मालवा संस्कृति के पात्र प्राप्त होते है। इस तरह इसमें किसी तरह का संदेह नहीं रह जाता है कि आहाड़ संस्कृति का

काल कायथा और मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति के मध्य में था। रेडियो कार्बन तिथियों के आधार पर आहाड़ संस्कृति को 1700–1500 ई0पू0 के बीच रखे जाने का सुझाव दिया गया है।

इस संस्कृति के निर्माता कौन थे इस संबंध में प्रमुख रूप से दो मत दिये जाते है जो निम्न है–

1. प्रथम मत में इस संस्कृति का संबंध हड़प्पा संस्कृति से स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इसका कारणदोनों संस्कृतियो में पक्की इटों का प्रयोग किया जाना तथा ताँबे की कुल्हाड़ियो, आधार युक्त तश्तरियो, पशुओ की सिर वाली गोटो का प्राप्त होना माना जाता है लेकिन अब ताँबे की कुल्हाड़ियां, आधारयुक्त तश्तरियो को हड़प्पा संस्कृति की विशेषता मानना इसलिए तर्कसंगत नहीं रह गया है क्योंकि इनकी प्राप्ति प्राक् हड़प्पन तथा परवर्ती हड़प्पन संस्कृतियों में भी हुई है। इसके अलावा अहाड़ संस्कृति के निर्माता यदि हड़प्पा संस्कृति के लोग रहे होते तो यहाँ से हड़प्पन लिपि से युक्त मोहरो एवं पात्र परम्पराओं की भी प्राप्ति होनी चाहिए थी। चूँकि ऐसा नहीं है इस आधार पर हडप्पा संस्कृति के लोगों को इसका निर्माता नहीं माना जा सकता है।

2. एच0डी0 सांकलियाँ ने अहाड़ के मनको पर उत्कीर्ण पशु आकृतियों की समानता पश्चिम एशिया की संस्कृति से स्थापित करके उन्हें ही इस संस्कृति के निर्माता होने का मत प्रतिपादित किया है लेकिन इस मत का भी खण्डन किया गया है क्योंकि अभी तक पश्चिमी एशिया के किसी भी स्थान से कृष्ण–लोहित पात्र परम्परा (B.R.W.) का उदाहरण नहीं मिला है।

निष्कर्ष :– प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अहाड़ संस्कृति के मूल निर्माताओ के प्रश्न का हल अभी तक नहीं निकल पाया है। लेकिन कुल मिलाकर यही सम्भावना है कि इस संस्कृति के लोगो का हड़प्पा संस्कृति के लोगो के साथ अवश्य सम्पर्क रहा होगा। उन्हीं से प्रभावित होकर ये लोग अपने विशिष्ट प्रकार की मृदभाण्ड परम्परा, ताम्र उपकरण बनाने का तकनीकी ज्ञान तथा विशाल आकार के भवनो के निर्माण की योजना को लेकर दक्षिण पूर्वी राजस्थान तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश में आये थे और यहाँ पर अपनी विशिष्ट क्षेत्रीय संस्कृति को व्यवस्थित किया था।

12.6 मालवा ताम्र पाषाण कालीन संस्कृति

हड़प्पेतर ताम्र पाषाण कालीन संस्कृतियों में मालवा की ताम्र पाषाण कालीन संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस संस्कृति का नामकरण मालवा क्षेत्र के नाम

पर किया गया है। इस संस्कृति से संबंधित साक्ष्य सर्वप्रथम मालवा क्षेत्रसे प्राप्त हुए थे, इसलिए इसे मालवा नाम दिया गया। यह संस्कृति अहांड़ संस्कृति की उत्तराधिकारी थी। पश्चिमी निमाड़ जिले के नवदाटोली का स्थल नर्मदा के दक्षिणी किनारों पर है और इस संस्कृति का सबसे बड़ा केंद्र है। मालवा संस्कृति के अन्य स्थलों में महेश्वर नीमड जिला, नागदा, उज्जैन जिला और एरण सागर जिला है। इन पुरास्थलों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति का विवरण निम्नवत हैं–

मालवा संस्कृति के मृदभांड की सबसे बड़ी विशेषता है कि ये ज्यादातर सामान्य कोटि के मृदभांड है और इन पर नारंगी रंग का लेप चढ़ाया गया है। मालवा मृदभांड के पात्रो के ऊपरी हिस्से पर काले या गहरे भूरे रंग के डिजाइन भी बने होते हैं। इन मृदभाण्डों में सबसे प्रमुख लोटा के आकार का पात्र है। लोटा के अतिरिक्त उत्तल सतह वाले पात्र, टोटी वाले पात्र और आधार वाले अर्ध अंडाकार पात्र भी पाए जाते हैं। मालवा के मृदभांडों पर प्रायः 600 से अधिक प्रकार के प्रतीक देखे जा सकते हैं इनमें अधिकांश ज्यामितीय होते हैं और कुछ प्राकृतिक वनस्पति और पशुओं तथा मानवीय आकृतियों को भी इन मृदभांडों पर अंकित किया गया है। इन चित्रों में कृष्ण, मृग, वृषभ, हिरण, मयूर, सुअर, बाघ, तेंदुआ, लोमड़ी, कछुआ, मगरमच्छ और कई प्रकार के कीट–पतंगे दिखते हैं।

इस संस्कृति से संबंधित आवासीय साक्ष्य का प्रमाण नावदा टोली से प्राप्त होता है इसमें कोई विशेष नगर योजना का प्रयोग नहीं किया गया था। नवदाटोली से प्राप्त मकान बेतरतीब ढंग से बने हुए थे जिनके बीच में कहीं कहीं गलियां निकाली गई थी। ज्यादातर घर वृत्ताकार होते थे और झोपड़ीनुमा बनाये गए थे जिनकी फर्श चूने के द्वारा प्लास्टर किये गए थे। घरों की छतों को जो प्रायः शंक्वाकार होते थे, को लकड़ी के बने खम्भों से सपोर्ट मिलता था। दीवारें काफी कम ऊंची होती थीं। कभी–कभी दीवारों का अभाव भी देखा जा सकता है। बॉस के परदे पर गीली मिट्टी का मोटा लेप लगाया जाता था। इनमें पाए जाने वाली छत कभी कभी इतनी नीचे चला जाता था कि वह जमीन को छूने लगती थी। नागदा चंबल नदी के किनारे स्थित एक स्थल है वहाँ से मिट्टी की ईंटों की बनी संरचनाएँ मिली हैं। एरण में एक विशाल मिट्टी का सुरक्षा प्राचीर मिला है इसके किनारे खांई भी बनायी गयी थी।

मालवा संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहाँ पर पत्थर की सामग्री के स्थान पर तांबे की वस्तुएं अधिक पाई गई हैं। शायद इस क्षेत्र में ताबे का अभाव था। मालवा की पत्थर की बनी वस्तुएं कार्नेलियन, अगेट, जैस्पर और क्वार्ट्ज पर बनाया गया था। नवदाटोली से प्राप्त साक्ष्यों को देखने से प्रतीत होता

है कि ये वस्तुएँ घरेलू उद्योग के रूप में बनाई जाती था। कुछ औजारों में हत्था लगा था, कुछ को हाथ से सीधे पकड़कर उपयोग किया जाता था। पत्थर के उपकरणों में कई उपकरण जैसे पांव से चलाए जाने वाले चक्की, हथौड़ा–शीर्ष गदा–शीर्ष और बटखरे भी मिले हैं। तांबे की सामग्रियों में तार का छल्ला, मनके, चूड़ियां, मछली का कांटा, छेनी, नहनी, टूटी हुर्अ तलवार इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। यहाँ से पशुओं की मृण्मूर्तियां और तकली भी मिली है।वनस्पति अवशेषों में गेहूं, जौ, तीसी, चना, मूंग, मसूर, आंवला, बेर और खेसारी देखा जा सकता है। प्राणि अवशेषों में जंगली हिरण पालतू मवेशी भेड़, बकरी और सूअर की हड्डियाँ भी मिली

उत्खनन के आधार पर मालवा संस्कृति के धार्मिक और अनुष्ठानिक गतिविधियों का भी कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है। नवदाटोली में 2.3 x 1.92 x 1.35 मीटर का एक गड्ढा पाया गया जो एक मकान के बीच में अवस्थित था और इस संस्कृति के प्रारंभिक चरण का प्रतीक होता है। इस गड्ढे के किनारे प्लास्टर किये हुए थे। कुछ लकड़ियां इन गड्ढो में पाई गई और जले हुए लकड़ियों के चार खंभे चारों कोनों में स्थित थे। इस गड्ढे को अग्नि वेदिका के रूप में चिन्हित किया जा सकता है, जहाँ यज्ञ का संपादन किया जाता था। इसी प्रकार की दूसरी रोचक प्राप्ति नवदाटोली में हुई है, भंडारण के उद्देश्य से बनाया गया एक बड़ा मर्तबान प्राप्त हुआ है। इसके ऊपर दाईं ओर स्त्री की आकृति अंकित थी। हो सकता है यह किसी धर्म से जुड़ा हुआ हो और बाईं ओर एक बड़े मगरमच्छ या गिरगिट की आकृति बनी हुई है और इसके पीछे एक मंदिर नुमा आकृति है।यह गिरगिट के समान किसी संबंधित प्रतीक के लिए बना हुआ था। चार मंदिरों की आकृति चार हिस्सों में पाई गई है और चार को एथलिक पैटर्न (गोटेदार डिजाइन) से अलंकृत किया गया था। मर्तबान के दूसरे हिस्से में कछुआ के साथ देव स्थल बना हुआ है। महाराष्ट्र के प्रकाश नामक स्थल के मालवा संस्कृति के स्तर में भी कछुए की आकृति का शंख से बना एक ताबीज भी मिला है। एक टोंटीदार पात्र के ऊपर लहराते हुए बालों वाले एक पुरुष की आकृति बनी है, जो नवादाटोली से प्राप्त हुई है इसकी कुछ विद्वानों ने रुद्र के आदिम रूप से तुलना की है।

मालवा संस्कृति के कई स्थलों से वृषभों की आकृतियां भी मिलती हैं। दंगवाड़ा के उत्खनन से वृक्ष, सर्प, बृषभ तथा मातृ देवियों की उपासना का संकेत मिलता है। यहाँ से भी यज्ञ वेदिकाओं के अवशेष मिले हैं। मालवा संस्कृति में शवों को घरों में फर्श के नीचे ही दफनाया जाता था और शवों को उत्तर–पश्चिम दिशा में रखा जाता था। इंदौर के आजादपुर नामक स्थल से घर की फर्श के नीचे दफनाए गए एक शिशु का शव मिला है। इनके पैरों को मृत्यु के बाद काट दिया जाता था। एक धारदार ब्लेड तथा एक टेराकोटा की बनी छोटी तख्ती इनके सिर के पास रखी जाती थी। मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति को मोटे तौर पर 2000

ईसा पूर्व से 1750 ईसा पूर्व के बीच में रखा जा सकता है। कायथा नवदाटोली तथा इनामगांव से अनेक रेडियोकार्बन तिथियां उपलब्ध हैं जिनके आधार भी पर मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति का कालक्रम प्रस्तावित किया जा सकता है। प्राप्त तिथियों के आधार पर मालवा संस्कृति को लगभग 1700 ईसा पूर्व से 1200 ईसा पूर्व के मध्य का माना जा सकता है।

12.7 जोर्वे की ताम्र पाषाणकालीन संस्कृति

जोर्वे की ताम्र पाषाणकालीन संस्कृति भी एक ग्राम्य संस्कृति है। इस संस्कृति के विषय मे जानकारी महाराष्ट्र के अहमद नगर जिले में स्थित जोर्वे नामक पुरास्थल के उत्खनन से सर्वप्रथम हुआ, इसलिए इसको जोर्वे की ताम्रपाषाणिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस पुरास्थल पर केवल एक ही संस्कृति के साक्ष्य उपलब्ध हुए है। जोर्वे तथा नासिक इन दोनों पुरास्थलो पर सीमित पैमाने पर उत्खनन होने के कारण इस संस्कृति के विभिन्न पक्षो के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी थी। जोर्वे संस्कृति से संबंधित सबसे अधिक पुरास्थल तापी (ताप्ती) नदी की घाटी में एवं उसकी सहायक नदीयों के तटो पर स्थित है। इसके पश्चात संख्या की दृष्टि से जोर्वे संस्कृति के पुरास्थल गोदावरी की घाटी में स्थित है। भीमा नदी की घाटी में भी अधिक संख्या में यत्र–तत्र जोर्वे संस्कृति के कतिपय गिने–चुने पुरास्थल विघमान है। ताप्ती, गोदावरी तथा भीमा आदि बड़ी नदियों की अपेक्षा इन छोटी–छोटी सहायक सरिताओ मंजरा, वरई, गोमप, अरुणावती, प्रवरा, गिरना, घोड़, चोड़, बहालुंगी आदि के किनारो पर अधिकांश पुरास्थल स्थित है। जोर्वे संस्कृति से संबंधित अधिकांश पुरास्थल महाराष्ट्र की काली मिट्टी के ऊपर स्थित दिखाई पड़ते है । इस संस्कृति के अनेक पुरास्थलो का अभी तक उत्खनन हो चुका है इनमे से प्रकाश, शावाल्दा तथा कोठे, धूले जिले में स्थित है। तुलजापुरगढ़ी, अमरावती जिले में, दायमाबाद, गुलवर्गा जिले में नेवासा, नासिक, जोर्वे, सोनगांव और अपेगांव, अहमदनगर जिले में तथा चंदौली एवं बाड़की, पुणे जनपद में स्थित है। इन पुरास्थलो से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषो के आधार पर जोर्वे की ताम्रपाषाणिक संस्कृति के विविध पक्षो पर प्रकाश पड़ता है जिसका विवरण निम्नवत है–

12.7.1 मृदभाण्ड परम्पराएं :–

जोर्वे संस्कृति में कई प्रकार की पात्र परम्पराएं प्रचलित थी, जिनमे से कुछ का आविर्भाव जोर्वे के साथ–साथ दिखाई पड़ता है, जबकि कुछ पात्र परम्पराए पहले से ही अस्तित्व मे थी, जिन्हे जोर्वे संस्कृति के लोगो ने ग्रहण कर लिया था। इस संस्कृति से संबंधित पात्र परम्परा में मालवा पात्र परम्परा एवं दुधिया पात्र परम्परा

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मालवा पात्र परम्परामुख्यतः मालवा संस्कृति से संबंधित है जिसके विषय में सर्वप्रथम जानकारी नवदाटोली के उत्खनन से हुई थी। मालवा पात्र परम्परा के बर्तन हल्के लाल रंग के मिलते है जिनके ऊपर काले या स्लेटी रंग से चित्रण किए गए है। दुधिया स्लिप वाले मृदभाण्ड चंदौली से प्राप्त हुए है लेकिन मृदभाण्ड अच्छी किस्म के नहीं बनाए गए है। बर्तन पतली गढ़न के हैं। अधिकांश पात्र अच्छी तरह से पके हुये है। बर्तन प्रायः चाक पर बने हुए है लेकिन उनके कुछ हिस्सो जैसे टोंटी आदि को हाथ से बनाया जाता था। टोटीदार बर्तन, कोखदार कटोरे छोटी तथा बड़ी गर्दन वाले बर्तन तसले, गहरे कटोरे आदि विशेष उल्लेखनीय पात्र प्रकार हैं। जोर्वे के पात्रो में थालियां और तस्तरियां नहीं मिली है। लाल रंग की पात्र परम्पराओं में हाण्डी तथा गोल बर्तन के बड़े ढक्कन भी जोर्वे संस्कृति में ठीक उसी तरह उपलब्ध होते है जैसे दक्षिण भारत की लौह कालीन संस्कृति में मिलते है।

जोर्वे पात्रो की लाल सतह पर काले रंग का चित्रण मिलता है। चित्रण रेखीय एवं ज्यामित्तीय प्रकार का अधिक मिलता है। इसके अलावा चतुर्भुज, टेड़ी–मेड़ी रेखाएं तथा त्रिभुज प्रमुख ज्यामितीय अलंकरण हैं। वनस्पति एवं फूल–पत्ती के साथ–साथ, जानवरों का भी चित्रण पात्रो के ऊपर मिलता है। नेवासा पुरास्थल से जानवरो का चित्रण अधिकाशतः मिलता है।

12.7.2 उपकरण एवं अन्य पुरानिधियां :–

इस संस्कृति के पुरास्थलो से प्राप्त ताम्र उपकरणों में कुल्हाड़ियां, चाकू, सुईयां, चूडियां, मनके तथा अंजनशालकाए आदि हैं। एक किसान को दायमाबाद के टीले पर स्थित एक पेड़ की जड़ खोदते समय एक गैडा, एक हाथी तथा एक रथ जिसमें 2 बैल जुते हुए है एवं एक खड़ी मुद्रा में व्यक्ति सवार प्राप्त हुए है। जो वर्तमान समय में ये सभी 'The prince of wales Museum Mumbai' में संरक्षित हैं। इसके नीचे लगभग 1.20 मीटर मोटा जोर्वे संस्कृति का पुरातात्विक जमाव था। ये सभी खिलौने तांबे के बने हैं। इनको सांचे में ढालकर ठोस आकार का बनाया गया है। इन चारों का वजन लगभग 60 किलोग्राम है। प्रकाश, दायमाबाद, चंदौली तथा इनामगांव के जोर्वे संस्कृति के स्तरो से कतिपय मानव एवं पशु मृणमूर्तियां प्राप्त हुई है। सेलखड़ी, तमडा पत्थर, पकी मिट्टी, ताम्र तथा सोने के बने हुए मनके भी प्राप्त हुए है।

12.7.3 आवास :–

जोर्वे संस्कृति के लोग अपने मकानो के निर्माण के लिए बांस–बल्ली एवं मिट्टी का प्रयोग करते थे और स्थाई जीवन व्यतीत करते थे। इनके मकान प्रायः चौकोर होते थे। इनामगांव के उत्खनन से अनेक मकान प्रकाश में आए। मकान की

दीवारो के गोल कोने बना दिये जाते थे। मकानो के छप्परो के संबंध में स्पष्ट जानकारी नही प्राप्त हुई है।

12.7.4 कृषि तथा पशुपालन :–

अहाड़ और मालवा की ताम्र पाषाणिक संस्कृति के लोगों की भाति जोर्वे संस्कृति के लोग भी कृषि तथा पशुपालन के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। नेवासा के उत्खनन से इस बात के संकेत मिले है कि ये लोग सम्भवतः कपास की खेती करते थे। इनामगाँव के उत्खनन से जौ, गेहूँ, मटर, मूंग या उड़द की खेती करने के प्रमाण मिले है।, इनाम गाँव सेझरवेर, जामुन, जंगली ताड़ तथा बेर की गुठलियां प्राप्त हुई है।

पालतू पशुओ में गाय बैल भेड़, बकरी कुत्ते प्रमुख थे। इनाम गाँव के एक पात्र पर बैलगाड़ी मे जुते दो बैलो का चित्रण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि बैल भारवाही पशु थे। इस संस्कृति का मानव शाकाहारी भोजन के साथ जंगली जानवरों को मारकर खाता था।

12.7.5 अन्त्येष्ठि संस्कार :–

इस संस्कृति का मानव अपने मृतको का दाह संस्कार भी करता था जिसका प्रमाण नेवासा दायमाबाद, कौठे, चंदौली, इनामगाँव आदि से मिलता है। तुलजापुरगढ़ी तथा वाडकी से जो कंकाल मिले है वे बच्चों के हैं। अपेगाँव से एक वयस्क का जबड़ा मिला है। टेकवाडा से भी मानव कंकाल मिले हैं। इनामगाँव से 176, कौढ़े से 37 तथा दायमाबाद से 5 मानव कंकाल मिले हैं। नेवासा तथा इनामगाँव से बच्चों को दफनाने के लिए बड़े आकार के अन्त्येष्टि कलश प्राप्त हुए है।

इसताम्रपाषाणिक संस्कृति को प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर लगभग 1500 ईसा पूर्व से 800 ईसा पूर्व के मध्य रखा जा सकता है। धवलीकर महोदय ने जोर्वे संस्कृति को 1700 ईसा पूर्व से 700 ईसा पूर्व के मध्य का मानते है।

12.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कायथा, अहाड और मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों की तरह जोर्वे संस्कृति का मानव भी अपने जीवन यापन के लिए कृषि और पशुपालन पर निर्भर था। धातु से भी परिचित था, जिससे वह धातु के उपकरणों को बनाता था। इस काल का मानव मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करता था तथा मृतको को दफन करने के लिए भी कभी–कभी बड़े आकार के पात्रों का प्रयोग करता था। मृतको के साथ अन्त्येष्टि सामाग्री को भी रखता था।

12.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. वर्मा, राधाकान्त एवं नीरा वर्मा .2003. *पुरातत्त्व अनुशीलन,* भाग–2. परम ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।

12.10 बोध प्रश्न

प्रश्न–1 कायथा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न–2 अहाड़ की ताम्रपाषाणिक संस्कृति पर एक निबंध लिखें।

प्रश्न–3 भारतीय आद्यतिहास में जोर्वे संस्कृति के महत्व का आकलंन कीजिए।

इकाई–13 गैरिक मृद्भांड परंपरा और ताम्रनिधि

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 गैरिक मृद्भांड परंपरा और ताम्रनिधियां

13.4 विस्तार क्षेत्र

13.5 प्रमुख उपकरण प्रकार

13.6 संबद्ध पुरावशेष

13.7 गैरिक मृद्भांड संस्कृति

13.7.1 पात्र परंपरा

13.6.2 अलंकरण (चित्रण)

13.6.3 सम्बद्ध पुरानिधियाँ

13.7.4मूर्तियाँ

13.7.5कृषि

13.7.6 पशुपालन

13.7.7मकान या भवन

13.7.8तिथिक्रम

13.8 सारांश

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.10 बोध प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

भारत में सर्वप्रथम 1822 ई0 में उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के विट्ठुर नामक स्थान से ताम्रनिधियो को प्राप्त किया गया। ताम्रनिधियो के बारे में सर्वप्रथम विंसेण्ट स्मिथ ने 1905 से 1907 के मध्य इनके ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक महत्व को स्थापित करने का कार्य किया। बाद में हीरानंद शास्त्री ने 1916 ई0 में एक संक्षिप्त निबन्ध ताम्रनिधियो के बारे में लिखा। हीरानंद शास्त्री उस समय लखनऊ

संग्रहालय के संग्रहालयाध्यक्ष थे। इसके बाद 1951 ई0 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के बी0बी0लाल ने गांगेय क्षेत्र से 37 ताम्रनिधियों की प्राप्ति के बारे में बताया। इस प्रकार देखा जाए तो 1822 ई0 में जिस ताम्रनिधि के बारे में पता चला वो परंपरा आगे चलकर 1951 ई0 में अपनी परिपक्वता को प्राप्त कर ली थी अर्थात् ताम्रनिधियो के बारे में ज्यादा जानकारी हो चुकी थी।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- ताम्रनिधियों के विषय में।
- ताम्रनिधि से सम्बद्ध प्रमुख उपकरण प्रकार के विषय में।
- गैरिक मृदभाण्डसंस्कृति की विशेषताओ के बारे में।

13.3 ताम्रनिधियां

ताम्रनिधियाँ,ऐसी निधियाँ जिसमें ताँबे की बनी हुई वस्तुएँ संग्रहीत अवस्था में किसी स्थान में प्राप्त होती है तो उसे 'ताम्रनिधि' कहा जाता है।भारत में सर्वप्रथम 1822 ई0 में उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के विट्ठूर नामक स्थान से सर्वप्रथम ताम्रनिधियो को प्राप्त किया गया। ताम्रनिधियो के बारे में सर्वप्रथम विंसेण्ट स्मिथ ने 1905 से 1907 के मध्य इनके ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक महत्व को स्थापित करने का कार्य किया। बाद में हीरानंद शास्त्री ने 1916 ई0 में एक संक्षिप्त निबन्ध ताम्रनिधियो के बारे में लिखा। हीरानंद शास्त्री उस समय लखनऊ संग्रहालय के संग्रहालयाध्यक्ष थे। इसके बाद 1951 ई0 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के बी0बी0लाल ने गांगेय क्षेत्र से 37 ताम्रनिधियों के प्राप्ति के बारे में बताया। इस प्रकार देखा जाए तो 1822 ई0 में जिस ताम्रनिधि के बारे में पता चला वो परंपरा आगे चलकर 1951 ई0 में अपनी परिपक्वता को प्राप्त कर ली थी अर्थात् ताम्रनिधियो के बारे में ज्यादा जानकारी हो चुकी थी।अब तक भारत में लगभग 80 से 90 के बीच ताम्रनिधियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। इसमें सबसे ज्यादा ताम्रनिधि के पुरास्थल उत्तर प्रदेश से प्राप्त हुई है, जिसकी संख्या लगभग 33 है। इसके अलावा अन्य राज्यो से भी ताम्रनिधियों की प्राप्त हुई है, जिनका विवरण निम्नवत् है–

क्रम संख्या	राज्य का नाम	तम्रनिधियो की संख्या
1.	हरियाणा	5
2.	राजस्थान	7

3.	उत्तर प्रदेश	33
4.	बिहार	19
5.	पश्चिम बंगाल	6
6	उड़ीसा	7
7.	मध्य प्रदेश	8
8.	कर्नाटक	1

13.4 प्रसार क्षेत्र :–

गंगा यमुना दोआब में

- राजपुर परसु :– उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में
- विट्ठूर :– कानपुर जिले में
- बिसौली :– उत्तर प्रदेश के बदायू जिले में
- परिहर :– उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में है।
- सरयोली :– उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर में।
- मानपुर :– उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले में।
- बहादराबाद :– उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में।
- सैफई :– उत्तर प्रदेश के ईटावा जिले में इत्यादि।

दक्षिणी–पूर्वी पठार :– बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में हामी, बरगुण्डा एवं कौशल्या, पश्चिम बंगाल में तमाजुरी तथा उड़ीसा में दुबेरिया/दुनेरिया, भागरापीर इत्यादि।

मध्य भारत तथा दकन :– मध्य प्रदेश में पोण्डी, गुगेरिया (424 ताम्र उपकरण), महारा ट्र के अहमदनगर जिले में स्थित दायमाबाद एवं कर्नाटक के रायचूर जिले में कल्लूर इत्यादि।

13.5 प्रमुख उपकरण के प्रकार :–

- ताँबे की चिपटी कुल्हाड़ियाँ

- स्कन्धित कुल्हाडी
- सब्बर या खन्ती :– (रंम्भा)
- दोधारी कुल्हाडियाँ
- फावड़ा
- कड़े अथवा छल्ले (मध्य प्रदेश के रीवा जिले के पोण्डी से 47 प्राप्त हुए है)
- मत्स्य भाले
- काँटेदार भाला (तलवार)
- श्रृंगिका तलवार
- मानवाकृति

13.6 सम्बन्ध पुरावशेश :–

20वीं शताब्दी के 5वें दशक में बी0बी0लाल के प्रयासो से ताम्रनिधियो से सम्बन्धित पुरावशेषो की जानकारी प्राप्त हुई। राजपुर परसु तथा बिसौली का उत्खनन बी0बी0लाल द्वारा करवाया गया, जिसके उपरान्त इन पुरास्थलो से गैरिक मृदभाण्डोंकी प्राप्ति हुई। ये बर्तन गेरूआ रंग के होते है इसलिए इसेगैरिक मृदभाण्ड कहा गया। ये मृदभाण्ड अत्यंत भंगूर थे, जोहाथ लगने मात्र से चूर–चूर होने लगते थे। राजपुर परसु तथा बिसौली एंकाकी संस्कृति वाले पुरास्थल है अतः इन पुरास्थलों से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर कालानुक्रम की दृष्टि से इन्हें कहाँ रखा जाए यह कहना कठिन हैं, लेकिन ताम्रनिधियों और गैरिक मृदभाण्डों की समकालीनता तथा दोनों के परस्पर संबंध होने की संभावना स्वीकार की जा सकती है। गेरुवे रंग के मृदभाण्ड से संबंधित पुरास्थलों में राजपुर परसु एवं बिसौली के अलावा लालकिला, अतंरजीखेड़ा, बहादराबाद, बड़ागाँव, अम्बाखेड़ी, सैफई, नसीरपुर, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, श्रृंग्वेरपुर इत्यादि, दक्षिण–पूर्वी राजस्थान मे नोह, जोधपुरा, और पंजाब में कतपलाँव पुरास्थल महत्वपूर्ण हैं। सहारनपुर जिले में स्थित अम्बाखेड़ी, बड़ागाँव, बुलन्दशहर में स्थित लालकिला के उत्खननो से मृण्मूर्तियाँ एवं मृत्पिण्ड प्राप्त हुए है। सैफई तथा लाल किला से पालतू पशुओं की हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं तथा अतरंजीखेड़ा के उत्खनन से धान, जौ तथा दालो के कार्बनीकृत दाने प्राप्त हुए है।

हस्तिनापुर मेंकृष्ण–लोहित एवं चित्रित धुसर मृदभाण्ड दोनों सांस्कृतिक कालोंके बीच समय का व्यवधान दृष्टिगोचर होता है। बी0बी0लाल ने चित्रित धूसर मृदभाण्ड परम्परा के आरम्भ का समय 1100 बी0सी0(ई0 पू0) निर्धारित किया है। अतः ताम्रनिधियों एवं गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति को 1200ई0पू0 के पहले रखा जा सकता है।

13.7 गैरिक मृदभाण्ड (Ochre Coloured pottery)

गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति गेरु रंग के मृदभाण्ड के प्रचलन के आधार पर पहचानी जाती है। गैरिक का अर्थ'गेरुआ' है। इस संस्कृति के कुछ मृदभाण्डो का रंग गेरुआ होता था, जिसको अंग्रेजी में OCP (Ochre Coloured Pottery) कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके अन्य नाम है– ''गेरु पूते या गेरु लेपित मृदभाण्ड''। इन नामकरण के पीछे कारण हैं इनका गेरु रंग का होना।ऐसे मृदभाण्ड राजस्थान, उत्तर प्रदेश के गंगा की ऊपरी घाटी आदि क्षेत्रों में अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। अतः इनकी एक परम्परा रही होगी ऐसा कहा जा सकता है। जहाँ से भी ये पात्र प्राप्त हुए हैं उन स्थानों की खुदाई में सबसे निचले स्तर से ये मिले हैं।

सबसे पहले 1949 ई0 में बी0 बी0 लाल के द्वारा ताम्रनिधियो के सम्बन्ध पुरावशेषों की जानकारी के क्रम में बँदायू जिले के बिसौली ग्राम तथा बिजनौर जिले के राजपुर परसु नामक स्थानो से जानकारी पर हुई। फिर मेरठ जिले के हस्तिनापुर के उत्खनन से, एटा के अतंरजीखेड़ा से, ईटावा जिले के सैफई से, हरिद्रार के पास बहादराबाद से, इलाहाबाद के श्रृंग्वेरपुर से, बरेली में अहिच्छत्र से, राजस्थान के भरतपुर जिले में स्थित नोह से, पंजाब के जालंधर जिले में स्थित कतपलाँव से इस रंग के मृदभाण्ड तथा उसके टुकड़े प्राप्त हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इसकी प्राप्ति या विस्तार उत्तर में हरिद्धार से दक्षिण में राजस्थान के भरतपुर तक तथा पश्चिम में पंजाब के जालंधर से लेकर पूरब में उत्तर प्रदेश के श्रृंग्वेरपुर तक था। सबसे अधिक पुरास्थल उत्तर प्रदेश में है, जिनमें से कईस्थानों पर उत्खनन हुआ है। उत्खनित पुरास्थलो से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर इस संस्कृति के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश पड़ता है।

13.7.1 पात्र परम्परा :–

बहादराबाद, बड़ागाँव, लालकिला, अतंरजीखेड़ा तथा सैफई आदि के उत्खननो से प्राप्त पात्र खण्डो के आधार पर पात्र प्रकारों के संबंध में जानकारी प्राप्त होती हैं। बर्तनो की गढ़न सर्वत्र एक सी नहीं हैं। पतले एवं मोटे दोनों ही प्रकार के बर्तन प्राप्त होते हैं। गैरिक मृदभाण्ड के बर्तनो के विषय में अवधारण यह है कि ये बर्तन ठीक से पके हुये नहीं हैं। अंगुलियों के रगड़ने मात्र से ही गेरू जैसा रंग छूटता हैं। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् एच0 डी0 सांकलिया (हंसमुख धीरजलाल संकालिया) का मत है कि गैरिक मृदभाण्ड कोई मृदभाण्ड परम्परा नहीं है, अपितु कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों का परिणाम है। सांकलिया का मत है कि गैरिक मृदभाण्ड (OCP) पुरास्थलों के लंबे समय तक पानी में डूबे रहने के कारण यह स्थिति हो गई हैं।

13.7.2 अलंकरण (चित्रण) :–

प्रारम्भ में गैरिक मृदभाण्ड के पात्रखण्डों में चित्रकारी तथा उत्कीर्ण रेखांकन दोनों का अभाव था। लेकिन अब इस स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका हैं। अतंरजीखेडा और लाल किला से प्राप्त गैरिक मृदभाण्डों की लाल सतह पर काले रंग से चित्रण मिलते हैं जैसे घड़ों में गले के ऊपर एक चौड़ी काली पट्टी कभी–कभी बर्तनों के ऊपरी या निचले बाहरी भाग में गहरी काली पट्टी समानान्तर पट्टियो के अंदर आड़ी–तिरछी एवं लहरियादार रेखाएँ मिलती हैं। लाल किला से प्राप्त एक पात्र खण्ड पर बना हुआ कुकुदमान वृषभ विशेष उल्लेखनीय है।

13.7.3 सम्बद्ध पुरानिधियाँ :–

सम्बद्ध पुरानिधियों का विवरण निम्नवत् हैः

1. ईटावा में सैफई के उत्खनन से गैरिक मृदभाण्डो के साथ एक मत्स्यभाला प्राप्त हुआ है।
2. अतंरजीखेडा में गैरिक मृदभाण्डो के स्तरो से एक टुकड़े पर कुछ ताम्र–कण चिपके हुए प्राप्त हुए है। अनुमान किया जाता है कि यह पात्रखण्ड साँचे का टुकड़ा या मूषा (Crucible) रहा होगा।
3. बड़ागाँव के उत्खनन से ताँबे का एक उसी प्रकार का छल्ला प्राप्त हुआ है, जिस प्रकार के छल्ले की प्राप्ति पोण्डी और बहादराबाद से प्राप्त ताम्रनिधियो से मिली हैं।

13.7.4 मृण्मूर्तियाँ :–

सहारनपुर जिले में स्थित अम्बाखेड़ी से मिट्टी की बनी हुई कई वस्तुएँ मिली हैं, जैसे डीलदार बैल की मृण्मूर्ति, खिलौना गाड़ी का पहिया इत्यादि। मानव मृण्मूर्तियाँ बहुत कम मिली हैं। लाल किला से प्राप्त मातृदेवी की मृण्मूर्ति इस सन्दर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। इसके अलावा मिट्टी के खिलौने भी प्राप्त होते हैं।

13.7.5 कृषि :–

अतरंजीखेड़ा से प्राप्त अधजले अनाज के दानो के अध्ययन से पता चलता है कि इस काल में धान, जौ तथा दालों की खेती होती थीं। इस प्रकार यह उपरी गंगा घाटी में कृ ा का प्राचीनतम साक्ष्य हो सकता हैं। इसके अलावा सिल लोढों की प्राप्ति भी अनाजों की उत्पत्ति की ओर संकेत करते है। बड़े–बड़े घड़े एवं मटको का प्रयोग अनाज के भण्डारण के लिए किया जाता था।

13.7.6 पशुपालन :–

गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति से संबंधित पुरास्थलों में सैफई तथा लालकिला के उत्खननो से पशुओं की कुछ हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। सैफई से प्राप्त हड्डियों में बैल की पसलियाँ प्रमुख हैं। लाल किला से प्राप्त पशुओं की हड्डियो में से अधिकांश या तो अधजली है अथवा उनमें कटने के निशान मौजूद है। इससे प्रतीत होता है कि पशुओं का खाद्य सामाग्री के रूप में भी प्रयोग किया जाता था।

13.7.7 मकान या भवन :–

इस संस्कृति से संबंधित पुरास्थलों के उत्खनन से आवास के स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होते हैं फिर भी लाल–किला एवं सैफई इत्यादि पुरास्थलों से प्राप्त मिट्टी के पिण्ड (ढोको) के साथ बाँस या बल्ली की छाप का मिलना इस बात की ओर संकेत करता है कि इस काल का मानव अपने आवास का निर्माण बाँस–बल्ली एवं घास फूस तथा मिट्टी के प्रयोग से करता था।

13.7.8 तिथि (कालानुक्रम) :–

हस्तिनापुर के उत्खनन से उत्खननकर्त्ता को कृष्ण–लोहित और चित्रित धूसर मृदभाण्ड परम्परा स्तर के मध्य कुछ अंतराल प्राप्त होता हैं। इस अंतराल को उनके द्वारा गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति के रूप में पहचाना जाता हैं। चित्रित घूसर मृदभाण्ड वाले स्तर का प्रारम्भ लगभग 1200 ईसा पूर्व माना गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि गैरिक मृदभाण्ड की संस्कृति का काल बारहवीं से तंरहवीं शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य रखा जा सकता है। अतंरजीखेड़ा, अहिच्छत्र, श्रृंग्वेरपुर एवं नोह पुरास्थलों से भी गैरिक मृदभाण्ड के पात्र खण्ड सबसे निचले स्तर से प्राप्त हुए हैं। राजस्थान में जयपुर के जोधपुरा से गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति के स्तर से दो नमुनों की तिथि 2600 ईसा पूर्व और 2200 ईसा पूर्व प्राप्त हुई है, जिसे जोधपुरा संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है।

13.8 सारांश

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि ताम्रनिधि मानव द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति हेतु बनाए गए ताम्र के उपकरण थे जो किसी स्थान पर छुपा कर रख दिये गए। बाद में इन निधियों को जब वर्तमान समय में प्राप्त किया जाता है तो उसे ताम्रनिधि का नाम दिया गया। ताम्रनिधियों का संबंध गैरिक मृद्भांड संस्कृति से है क्योंकि जहाँ से ताम्र निधियों की प्राप्ति होती है, उन्हीं स्थानों से गेरुए रंग के मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। परंतु कुछ ऐसे साक्ष्य हैं प्राप्त हुए हैं जिनमें साथ–साथ दोनों वस्तुएं नहीं प्राप्त होती हैं। ताम्रनिधियों के साथ प्राप्त गैरिक मृद्भांड अत्यंत भंगुर है, जो हाथ से छूने मात्र से ही टूटने लगते हैं इन पात्रों में तांबे की रखी हुई कुल्हाड़ीयां प्राप्त होती है। जिनके आधार पर गैरिक मृदभांड संस्कृति और ताम्रनिधियों से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. वर्मा, राधाकान्त एवं नीरा वर्मा .2003. *पुरातत्त्व अनुशीलन,* भाग–2. परम ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।

13.10 बोध प्रश्न

प्रश्न. 1 भारत की गैरिक मृदभाण्ड संस्कृति पर प्रकाश डालिए ।

प्रश्न. 2 ताम्रनिधियों की प्रमुख विशताओ का विवेचना कीजिए ?

प्रश्न. 3–गैरिक मृदभाण्ड परम्परा (O.C.P.) की प्राचीनता एवं प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

इकाई 14 चित्रित धूसर एवं उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 चित्रित धूसर मृदभांड

14.3.1 लौह उपकरण

14.3.2 कृषि तथा पशुपालन

14.3.3 खाद्य सामग्री

14.3.4 वस्त्र तथा भूषण

14.3.5 व्यापार तथा वाणिज्य

14.3.6 आवास अथवा भवन व्यापार तथा वाणिज्य

14.3.7 आर्थिक दशा

14.3.8 तिथिक्रम

14.3.9 सारांश

14.4 उत्तरी काली चमकीली पात्र परंपरा

14.4.1 पात्र परम्परा

14.4.2 अलंकरण (चित्रण)

14.4.3 लौह उपकरण

14.4.4 कृषि और पशुपालन

14.4.5 सिक्के

14.4.6 भवन (वस्तु कला)

14.4.7 मृण्मूर्तियाँ

14.4.8 मनके

14.4.9 हड्डी के उपकरण

14.4.10 कालानुक्रम

14.5 सारांश

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.7 बोध प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता बी0 बी0 लाल ने जब चित्रित धूसर पात्र परम्परा का सम्बंध महाभारत के कथानक से सम्बंधित पुरास्थलो से किया तो उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि भारतीय पुरातत्व एक जीवन्त लोक है। चित्रित धूसर पात्र परम्परा से सम्बंधित कई पुरास्थलो का उत्खनन हो चुका है। इसमें अभईपुर, अहिच्छत्र, आलमगीरपुर, अल्लापुर, अतरंजीखेड़ा, भगवानपुरा, दादुपुर, हस्तिनापुर, जोधपुर, कौशाम्बी, मथुरा, जखेड़ा और रोपड़ आदि उल्लेखनीय पुरास्थल हैं। इन पुरास्थलो के उत्खननों से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर चित्रित धूसर पात्र परम्परा से सम्बन्धित संस्कृति के विषय में जानकारी हुई है।

उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड परम्परा का प्राचीन भारतीय इतिहास में बहुत ही विशिष्ट स्थान है क्योंकि इस पात्र परम्परा का सम्बन्ध द्वितीय नगरीकरण से है। लोहे के औजार बनाने की तकनीकी के बाद व्यापक पैमाने पर लौह उपकरणों का निर्माण तथा प्रयोग सम्भव हुआ, जिससे कृषि का तेजी से विकास हुआ और अर्थव्यवस्था में वृद्वि हुई। परिणाम स्वरुप व्यापार और वाणिज्य तथा उघोग–धन्धो का भी विकास हुआ। इस प्रकार एक अत्यन्त जटिल आर्थिक–जीवन की प्रक्रिया का उद्भव हुआ। मार्टीमर व्हीलर के अनुसार ''भारत के पुरास्थलों पर यह पात्र–परम्परा उसी प्रकार विशिष्ट है जिस प्रकार यूरोप महाद्वीप के भुमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में ''टेरा सिगिलाटा'' नाम की पात्र परम्परा।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- चित्रित धूसर पात्र परम्परा के विषय में।
- उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के विषय में।
- चित्रित धूसर पात्र संस्कृति की विशेषताओ के बारे में।
- उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड संस्कृति की विशेषताओ के बारे में।

14.3 चित्रित धूसर पात्र परम्परा

इस तरह के जो पात्र प्रकार है, वह मुख्यतः पंजाब, हरियाणा राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मिलती है। ऊपरी गंगा मैदान के पुरातत्त्व में चित्रित धूसर पात्र परम्परा का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता बी0 बी0 लाल ने जब इसका सम्बंध महाभारत के कथानक से किया तो उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि

भारतीय पुरातत्व एक जीवन्त लोक है। अब तक चित्रित धूसर पात्र परम्परा से सम्बंधित कई पुरास्थलो का उत्खनन हो चुका है। इसमें अभयपुर, अहिच्छत्र, आलमगीरपुर, अल्लापुर, अतरंजीखेड़ा, भगवानपुरा, दादूपुर, हस्तिनापुर, जोधपुर, कौशाम्बी, मथुरा, जखेड़ा और रोपड़ आदि उल्लेखनीय पुरास्थल है। इन पुरास्थलो के उत्खननों से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर चित्रित धूसर पात्र परम्परा संस्कृति के विषय में जानकारी हुई है।

14.3.1 लौह उपकरण :–

प्रारम्भ में हस्तिनापुर तथा रोपड़ के उत्खन्नो से चित्रित धूसर संस्कृति के धरातल से लोहे के उपकरणों के न मिलने के कारण इसे कास्यं युगीन पात्र परम्परा कहा गया था लेकिन बाद में आलमगीरपुर, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, अतरंजीखेड़ा, नोह इत्यादि सभी उत्खनित पुरास्थलो से लोहे के उपकरण प्राप्त हुए है, इस प्रकार अब इसको लौह युगीन संस्कृति स्वीकार किया जाता है। प्रमुख लौह उपकरणो में बाण फलक, कुल्हाड़ियाँ, सुईयाँ और कीले आदि विशेष उल्लेखनीय है। हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा आदि पुरास्थलों से लौह धातुमल भी मिले है।

14.3.2 कृषि तथा पशुपालन–

चित्रित धूसर पात्र परम्परा के निर्माताओं का आर्थिक जीवन मुख्यतः कृषि पर आधारित था। हस्तिनापुर के उत्खन्न से धान के अधजले दाने प्राप्त हुए है। इससे यह कहा जा सकता है कि यहाँ के लोग धान की खेती करते थे तथा चावल इनका प्रमुख खाद्यान्न था। राजस्थान के भरतपुर जिले में स्थित नोह नामक पुरास्थल की खोदाई से जौ की खेती के प्रमाण मिले है। इस संस्कृति के पुरास्थल से हल के फाल का प्रमाण नहीं मिला है। पशुपालन में चित्रित धूसर पात्र परम्परा के लोग गाय, बैल, और घोड़े को भी पालते थे क्योंकि हस्तिनापुर के उत्खन्न से पालतू घोड़े की हड्डियों के अवशेष प्राप्त हुए है।

14.3.3 खाद् सामाग्री–

चित्रित धूसर पात्र परम्परा के लोगो का चावल और जौ प्रमुख खाद्यान थे। इसके अलावा ये लोग गऊ माँस, हिरण माँस, सुवर माँस भी खाते थे। क्योंकि हस्तिनापुर के उत्खन्न से इन पशुओं के हड्डियों के अवशेष प्राप्त हुये है। इन हड्डियों को चीरकर मज्जा निकालकर खाया गया है। अतरंजीखेड़ा के उत्खन्न से सणसी, चिमटे तथा चूल्हे के अवशेष मिले है। इसके अतिरिक्त भोजनालय से सम्बंधित थाली, कटोरे तथा तश्तरियां भी मिली है।

14.3.4 वस्त्र तथा आभूषण–

अतरंजीखेड़ा के उत्खन्न से मिट्टी के बर्तनो पर सूती कपड़े की छाप लगी हुई मिली है। स्त्री तथा पुरूष दोनों को वस्त्राभूषणो का शौक था। विभिन्न प्रकार के मनके तथा ताबीजे भी प्राप्त हुई है। ताँबे तथा काँच की बनी हुई चूड़ियाँ चित्रित धूसर परम्परा के प्रायः अधिकांश पुरास्थलों से प्राप्त हुई है।

14.3.5 आवास (भवन)–

चित्रित धूसर पात्र परम्परा के अधिकांश पुरास्थलो से अभी तक पकी हुई ईंटो के नमूने प्राप्त नही हुये है। हरियाणा के कुरुक्षेत्र जिले में स्थित भगवानपुरा एक मात्र ऐसा स्थल है, जहाँ पकी ईटो के भवनो के कुछ अवशेष प्राप्त हुये हैं। इसलिए अधिकांश विद्वानों का अनुमान है कि ये लोग मिट्टी के बने हुये कच्चे भवनो में रहते थे। कभी–कभी मकानो की दीवारें जमीन में बाँस, बल्ली गांडकर बनायी जाती थी। घरो के छाजन सम्भवतः घास–फूस के होते थे। अतरंजीखेड़ा से एक घर के अन्दर एक चूल्हा मिला है। घरो से प्राप्त विविध पुरातात्विक सामग्री में विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन लोहे, ताँबे आदि के बने औजार प्रमुख पुरावशेष है।

14.3.6 व्यापार तथा वाणिज्य–

चित्रित धूसर पात्र परम्परा पात्र परम्परा के लोगो का आर्थिक जीवन जटिल नही था। अभी तक चित्रित धूसर पात्र परम्परा के किसी भी पुरास्थल से सिक्के के प्रचलन का प्रमाण नहीं मिला है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इनका जीवन वस्तु–विनिमय या अदल–बदल की आर्थिक प्रथा पर आधारित था।

14.3.7 धार्मिक दशा–

चित्रित धूसर पात्र परम्परा संस्कृति के धार्मिक जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी है। इस संस्कृति के लोग अपने मृतको का अंतिम संस्कार किस प्रकार करते थे इसके सम्बन्ध में भगवानपुरा को छोड़कर अन्य कोई संकेत अभी तक किसी भी पुरास्थल से नहीं मिला है। भगवानपुरा में शव दफनाने की प्रथा थी। गाय, बैल, घोड़े, भैंस एवं चिड़ियों की मृण मूर्तियाँ अल्लापुर, नोह, आलमगीरपुर, सरदारगढ़ आदि पुरास्थलो से मिली हैं। इन मृण मूर्तियो के धार्मिक प्रयोजन के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। नोह और अतरंजीखेड़ा से मिट्टी की हस्तनिर्मित मानव मूर्तियाँ भी प्राप्त हुयी है लेकिन इन मूर्तियो का क्या प्रयोजन था यह कहना कठिन है।

14.3.8 तिथिक्रम–

डॉ0 बी.बी.लाल ने हस्तिनापुर के उत्खन्न के आधार पर चित्रित धूसर पात्र परम्परा का काल 1100 से 800 ई0 पू0 निर्धारित किया है। रोपड़ में चित्रित धूसर पात्र परम्परा का समय 1000–700 ई0पू0, अतरंजीखेड़ा में 12वी शताब्दी ई0 पूर्व तथा कौशाम्बी में 885–605 ई0पू0 के बीच निर्धारित किया गया है। सौभाग्य से हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा आहिच्छत्र आदि पुरास्थलो से चित्रित धूसर पात्र परम्परा की रेडियोकार्बन तिथियाँ मिल गयी है और इस आधार पर इस संस्कृति को 800–400 ई0पू0 के बीच रखा गया है। कुल मिलाकर यही सम्भावना व्यक्त की गयी है कि इस संस्कृति की तिथि 1000 से 600 ई0 पूर्व के बीच रही होगी।

14.3.9 सारांश

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि चित्रित धूसर पात्र परम्परा के लोग ग्रामीण जीवन व्यतीत कर रहे थे, जिसको हम विकसित ग्राम्य जीवन कह सकते है। नगरीय संस्कृति उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड परम्परा की देन है। दोआब के घने जंगलो को लोहे के उपकरणो की सहायता से साफ करके चित्रित धूसर पात्र परम्परा के लोगो ने ऊपरी गंगा मैदान में कृषि योग्य भूमि के क्षेत्रफल में विस्तार किया। लेकिन महाभारत कालीन साहित्यिक ग्रंथो में तत्कालीन जीवन की जो झाँकी अंकित है, उस प्रकार के पुरावशेष अभी तक चित्रित धूसर पात्र परम्परा के किसी भी पुरास्थल से प्राप्त नहीं हुये हैं।

14.4 उत्तरी काली चमकीली पात्र परंपरा

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा का प्राचीन भारतीय इतिहास में बहुत ही विशिष्ट स्थान है क्योंकि इस पात्र परम्परा का सम्बन्ध द्वितीय नगरीकरण से है। लोहे के औजार बनाने की तकनीक के बाद व्यापक पैमाने पर लौह उपकरणों का निर्माण तथा प्रयोग सम्भव हुआ जिससे कृषि का तेजी से विकास हुआ और अर्थव्यवस्था में वृद्वि हुई। परिणाम स्वरुप व्यापार और वाणिज्य तथा उघोग–धन्धो का भी विकास हुआ। इस प्रकार एक अन्तन्त जटिल आर्थिक–जीवन की प्रक्रिया का उद्भव हुआ।

14.4.1 पात्र परम्परा

यह पात्र परम्परा अपने विशिष्ट पहचान के कारण जानी जाती है। इन पात्रों में धातु की तरह खनक होती है। ये पतली गढन के है तथा इन पर एक विशेष प्रकार की चमक पायी जाती हैं। इन पात्रों के ऊपर एक चमकदार स्लिप लगाई जाती थी जिससे पात्र सुन्दर और चमकदार दिखाई पड़ते है। इसी कारण इस पात्र

परम्परा को 'Luxurious Pottery' भी कहा जाता है। N.B.P.W पात्र परम्परा के साथ कुछ अन्य पात्रों का भी प्रचलन था जो निम्नवत् है–

1. मोटे गढ़न के अनलकृत धूसर पात्र
2. कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड
3. कृष्ण–लेपित मृदभाण्ड
4. लाल मृदभाण्ड

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के पात्र सर्वप्रथम 1937 ई0 में तक्षशिला (पाकिस्तान के रावल पिण्डी जिले में) के भीर टीले से प्राप्त हुए थे। मार्शल महोदय द्वारा इसे काली कांचित पात्र परम्परा (Black Glazed ware) नाम दिया और यूनानी पात्र परम्परा की अनुकृति बताया। बाद में इसी पात्र परम्परा को मार्टीमर हवीलर एवं कृष्णदेव द्वारा ''उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा'' के नाम से अभिगृहित किया गया। इस प्रकार के पात्र कई रंगो काला सुनहरा (Golden) रुपहला (Silver) नीला, नारंगी, चाकलेटी तथा गुलाबी इत्यादि में प्राप्त होते है लेकिन काले रंग के पात्र अधिकता में प्राप्त होते है, इसीलिए इसे उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा/उत्तरी कृष्ण–मार्जित पात्र परम्परा कहा गया। इसका प्रसार क्षेत्र अफगानिस्तान, पाकिस्तान, भारत, बग्लादेश और नेपाल तक था।

मार्टीमर व्हीलर के अनुसार ''भारत के पुरास्थलों पर यह पात्र–परम्परा उसी प्रकार विशिष्ट है जिस प्रकार यूरोप महाद्वीप के भुमध्यसागर के तटवती क्षेत्रों में ''टेरा सिगिलाटा'' नाम की पात्र परम्परा है। पात्रों का निर्माण भली–भाँति तैयार एवं अच्छी तरह से गुँथी मिट्टी से, सत्वर गति से चलने वाले चाक पर किया जाता था, जिससे मृदभाण्ड हल्के और पतले होते थे। पात्रों को सुखने के बाद अत्यन्त ऊँचे तापमान पर पकाया जाता था, जिससे पात्रों में धातु की तरह की खनन उत्पन्न हो जाती थी। प्रमुख पात्रों में थालियाँ, कटोरे, ढक्कन, कोखदार हाँडियाँ तथा छोटे कलश इत्यादि थे।

इन पात्रों के ऊपर लगी पॉलिश के विषय में खान बहादुर सनाउल्लाखान, पुरारसायनज्ञ बी.बी.लाल, के.टी.एम हेगडे, एच.सी. भारद्वाज और बिमसन आदि ने रासायनिक विश्लेषण किया है लेकिन अभी तक कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं प्राप्त हुआ है।

14.4.2 अलंकरण–

हस्तिनापुर, कौशाम्बी और श्रावस्ती तथा महाराष्ट्र प्रदेश के बहाल(धुले जिला)आदि से प्राप्त पात्रों पर चित्रण मिलता है। चित्रण प्रकारो में पट्टी या धारियाँ,

बिन्दु समूह, रेखाएँ, संकेन्द्रित वृत्त, प्रतिच्छेदी वृत्त (Intersecting circles), अर्धवृत्त, लहरियादार रेखाएँ इत्यादि प्राप्त होते है। अलंकरण काली, गुलाबी, पिंगल, गहरी भूरी, बादामी रंग से किया जाता था। इन पात्रों का सम्बन्ध अभिजात्य वर्ग के भोजनालय से था। सोनपुर, कुम्हरार, बैराट तथा रोपड़ आदि पुरास्थलों से प्राप्त पात्रों को ताँबे के पतले तार से जोड़ा गया था। इससे प्रतित होता है कि इन पात्रों का समकालीन समय में कितना महत्व था।

इस उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड संस्कृति से सम्बन्धित अन्य विशेषताओं का विवरण निम्नवत है–

14.4.3 लौह उपकरण–

उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों में यद्यपि लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर पात्र परम्परा (PGW) के काल में लगभग 1000 ई0 पू0 में हो गया था लेकिन उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के काल में लोहे के व्यापक स्तर पर प्रयोग के संकेत मिलते हैं। लौह अयस्क को पिघलाने और प्राप्त लोहे को पीटकर उपकरण बनाने की तकनीक में प्रगति परिलक्षित होती है। लोहे के उपकरणों के बड़े पैमाने में उपयोग से तत्कालीन लोगों के आर्थिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। प्रमुख लौह उपकरणों में बाण, फलक, भाले, शीर्ष, बरछी, कटार, चाकू, हंसियाँ, खुर्पी, कीले, बंसुला, छेनी, कड़ाही तथा दीपक आदि है।

14.4.4 कृषि और पशुपालन–

कृषि इस काल के लोगों की जीविका का प्रमुख आधार प्रतीत होता है, काफी विस्तृत भू–भाग में खेती की जाने लगी थी। चावल, गेहूँ, जौ, दलहन आदि इस काल के प्रमुख खाद्य थे। पशुपालन इनके आर्थिक जीवन का दूसरा प्रमुख आधार था। पालतू पशुओं मे गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़े तथा सुअर आदि की गणना की जा सकती है। इन पशुओ की हड्डियों विभिन्न पुरास्थलों के उत्खनन से प्राप्त हुई है। समाज का काफी बड़ा हिस्सा मांसाहारी था। क्योंकि पशुओं की कुछ हड्डियों पर वध करने (काटने के) के निशान मिलते हैं। इस प्रकार पशुओं को केवल भारवाहन के लिए ही नही पाला जाता था, बल्कि दूध, घी एवं मांस के लिए भी उनकी उपयोगिता थी। मछली पकड़ने का भी साक्ष्य इस संस्कृति से सम्बन्धित पुरास्थलो से मिलता है जिससे कहा जा सकता है कि जलीय जीवों का प्रयोग भी भोजन के रूप में किया जाता था।

14.4.5 सिक्के :–

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा(NBPW)संस्कृति की एक महत्वपूर्ण

विशेषता सिक्के का मिलना भी है। आर्थिक जीवन में जटिलता आ जाने के फलस्वरूप वस्तु विनिमय में परेशानी होने लगी। आर्थिक आवश्यकताओं के बढ़ते दबाव से सिक्कों का चलन शुरू हुआ। ताम्र और रजत के बने हुए आहत सिक्के भारत के प्राचीनतम सिक्के माने जाते है तांबे तथा चांदी से निर्मित लेखरहित ढली हुई मुद्राओं की गणना आहत मुद्राओ के समकालीन सिक्के के रूप में की जा सकती है।

14.4.6 भवन (वास्तु कला) :–

इस काल में भी मिट्टीं, घास–फूस और बांस–बल्ली के बने हुये कच्चे मकानों का निर्माण होता रहा तथापि पकी इंटो का प्रयोग उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा(NBPW) के मध्यवर्ती स्तरो से प्राप्त भवनो के निर्माण के लिए अधिकाधिक मात्रा में होने लगा। हस्त्तिनापुर अतरंजीखेड़ा, मथुरा, कौशाम्बी, उज्जैन तथा बहाल के 'उत्खननो' से इसके प्रमाण मिलते है। नगरो की सुरक्षा के लिए रक्षा प्राचीर तथा परिखा के निर्माण के प्रमाण अहिच्छत्र, कौशाम्बी, राजगृह तथा उज्जैन आदि से प्राप्त हुये हैं। रक्षा प्राचीरों का निर्माण मिट्टी के बने हुए ईटों से किया जाता था। कभी–कभी रक्षा प्राचीरो की बाहरी सतहो पर पकी हुई ईटे चुन दी जाती थी ताकि रक्षा प्राचीर और मजबूत हो जाये। इस काल के नगरो के कुछ भवनों में स्वच्छता तथा सफाई की दृष्टि से मृतिका बलय कूपो एवं सछिद्रित घड़ो को जोड़कर सोखता गडढ्ो का निर्माण किया जाता था। स्वच्छता की ऐसी विशेषता कुछ खास घरो में ही मिलती है। कौशाम्बी में पकी ईटो की बनी हुई ढकी और खुली नालियाँ तथा मिट्टी के पाइपों की सार्वजनिक नालियाँ इस काल के स्तरो से मिली हैं। इस प्रकार के प्रबन्ध सफाई एवं स्वच्छता के परिचायक हैं। कौशाम्बी से राजमार्ग के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं।

14.4.7 मृण्मूर्तियाँ :–

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा(NBPW) संस्कृति के काल में मृण्मूर्तियों के निर्माण के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। पूर्ववर्ती संस्कृति चित्रित धूसर मृदभाण्ड पात्र परम्परा की मृण्मूर्तियो की तुलना यदि इस काल की मृण्मूर्तियों से की जाये तो यह भेद अधिक स्पष्ट हो जायेगा। हाथी, घोड़े, वृषभ, कुत्ते, भेड़, हिरण आदि पशुओं और कछुआ, सर्प, आदि सरीसृप एवं चिड़ियों की हस्त निर्मित मूर्तियाँ मिलती है। अधिकांश मृण्मूर्तियाँ लाल रंग की है जिसके ऊपर गेरू के गहरे घोल का लेप चढ़ाया गया। धूसर तथा काले रंग की पशु मृण्मूर्तियों के उदाहरण भी अहिच्छत्र, मथुरा एवं वैशाली आदि स्थलों से मिले हैं। यह उल्लेखनीय है कि बक्सर से पीले रंग की खड़ी रेखाओं से अलंकृत पशु मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

पशुओं की मृण्मूर्तियो के अलावा मानव मृण्मूर्तियों का भी साक्ष्य इस संस्कृति से

मिलता है। अधिकांश मृण्मूतियाँ हाथ से बनायी हुई मिलती हैं। मानव मृण्मूर्तियों के मुख को सांचे में ढालकर बनाये गये कतिपय नमूने भी मिले हैं। मानव मृण्मूर्तियों में हाथो एवं पैरो का निर्माण स्टाम्प के रूप में किया गया है। आँखों को एक छोटे से वृत्त अथवा केवल रेखांकन के द्वारा और बालो को प्रदर्शित करने के लिए सिर पर गहरी रेखाएं खींच दी गयी हैं।

14.4.8 मनके :–

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के लोगों ने अपनी अभिरूचि का परिचय विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माण के माध्यम से किया है। उदाहरण के लिए विभिन्न पुण्यस्थलों चिरांद, सोहगौरा, राजघाट, सेनुवार, प्रहलादपुर, अगियाबीर, कौशाम्बी आदि के उत्खनन से आभूषण के अवशेष प्राप्त हुए हैं। मनके गोलाकार, बेलनाकार, त्रिभुजाकार आदि आकारो में मिलते है। मनकों के अतिरिक्त चूड़ियां और अंगूठियाँ भी मिले है। चूड़ियाँ बनाने के लिए ताँबे का विशेष रूप से उपयोग किया जाता था। प्रसाधन सामग्री में अंजनशलाकाऐं, ताँबे की बनी हुई कीले, हड्डी और हाथी दाँत की बनी हुई कंघियाँ, नखकर्तन एवं मृण्यमय वस्तुओं इत्यादि की गणना अन्य उल्लेखनीय पुरावशेषों में की जा सकती है।

14.4.9 हड्डी के उपकरण :–

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा(NBPW) संस्कृति के पुरास्थलों से बहुत बड़ी संस्था में हड्डी के बने हुए उपकरण प्राप्त हुए है। प्रमुख उपकरणों में बाल फलक, अस्थिनिर्मित बेधक तथा लेखनी इत्यादि हैं।

14.4.10 कालानुक्रम :–

उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा की तिथि निर्धारण के लिए तक्षशिला के भीरटीला से प्राप्त सिकन्दर के सिक्के को आधार बनाया गया है। सिकन्दर का समय 326 ई0पू0 प्राप्त सिक्के ने आधार पर निर्धारित किया गया है। जिस स्तर से सिकन्दर के सिक्के प्राप्त हुए है। उनके निचले स्तर सेउत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा (NBPW) संस्कृति के साक्ष्य प्राप्त हुआ है, जिसका जमाव लगभग 2.40 मीटर का है जिसे पुरातत्वविदो ने 200 वर्षो का माना है। इस आधार पर उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा(NBPW) संस्कृति की तिथि 560 ई0पू0 से 200 ई0पू. के बीच निर्धारित किया जा सकता है। हस्तिनापुर की (NBPW) संस्कृति को B.B. Lal महोदय ने 600–300 ई0पू0 के बीच रखा है। कौशाम्बी में 605 ई0पू0 से 450 ई0पू0 के मध्य इसकी तिथि निर्धारित की गयी है।

रेडियो कार्बन तिथि के आधार पर इस संस्कृति की तिथि 700 ई0 पू0 के लगभग निर्धारित की गयी है। यह तिथि रोपड़ हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, अतरंजीखेड़ा,

मथुरा कौशाम्बी, राजघाट, कुम्रहार (पटना), राजगीर, बेसनगर, उज्जैन तथा कायथा इत्यादि पुरास्थलों से प्राप्त होती है। एक अन्य पुरास्थल ऋग्वेरपुर से ताप संदिप्त विधि से 800 ई0 पू0 के लगभग की तिथि प्राप्त हुई है।

14.5 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा(NBPW) संस्कृति के लोग अपने जीवन–यापन के लिए कृषि के साथ–साथ व्यापार और उद्योग–धन्धों को भी करते थे। भोजन में शाकाहार के साथ माँसाहार का भी सेवन करते थे। इस काल की अर्थव्यवस्था अपने पूर्ववती कालों से अत्यधिक विकसित थी क्योंकि इस काल में मानव लोहे के उपकरणों का प्रयोग कृषि कार्य में करने लगा था, जिससे उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई। उत्पादन में वृद्धि होने से वस्तु विनिमय के साथ–साथ मुद्रा विनिमय की भी शुरूआत हुई तथा लोगों के जीवन स्तर में भी सुधार हुआ। मानव कान के आभुषण, मृण्मूर्तियाँ इत्यादि का भी निर्माण करने लगा था, परिणाम स्वरुप गंगा मैदान में द्वितीय नगरीकरण का उद्भव भी इसी काल में हुआ।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. वर्मा, राधाकान्त एवं नीरा वर्मा .2003. *पुरातत्त्व अनुशीलन,* भाग–2. परम ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।

14.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1– चित्रित धूसर पात्र परम्परा का प्रमुख विशताओ का विवेचना कीजिए ?

प्रश्न 2– चित्रित धूसर पात्र (P.G.W) परम्परा उत्तर भारत की लौह संस्कृति से सम्बंधित थी,वर्णन कीजिए?

प्रश्न3– उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा (N.B.P.W) की प्राचीनता एवं प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

इकाई–15 महापाषाणिक संस्कृतियाँ

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 महापाषाणिक संस्कृति

15.4 महापाषाणिक समाधियों के प्रकार

15.4.1 डोलमेन समाधि

15.4.2 संगोरा समाधि

15.4.3 मेनहीर समाधि

15.4.4 फणसिला समाधि

15.4.5 छत्रशिला समाधि

15.4.6 गुफा समाधि

15.4.7 अंत्येष्ठि कलश समाधि

15.4.8 शवमंजूषा समाधि

15.5 बृहद पाषाणिक संस्कृति की विशेषताएं

15.6 सारांश

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोध प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

बृहदपाषाण शब्द अग्रेजी भाषा के Megalith शब्द का हिन्दी रुपान्तरण है। Megalith शब्द युनानी भाषा के 2 शब्दों Megas (बृहद) तथाlithos (पाषाण) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है बृहदपाषाण। अतः इन बृहद पाषाणों से सम्बंधित संस्कृति को बृहदपाषाण कालीन संस्कृति के नाम से जाना जाता है। मृत्यु प्राचीन काल से ही मानव के लिए जिज्ञासु रहस्य का भय, आस्था और श्रद्धा का विषय रही है। मानव अपने मृतको के अंतिम संस्कार के लिये भी अत्यन्त सक्रिय प्राचीन काल से ही रहा है। मृतक के अंतिम संस्कार की शुरूआत नियन्डरथल मानव ने (1,00,000–55,000 ईसा पूर्व) सम्भवतः शुरू किया। मानव ने जैसे–जैसे समय

व्यतीत किया वैसे–वैसे शवाधान की प्रद्धति मे भी बदलाव किया और मृतको के साथ अन्त्येष्ठि समाग्री को रखने की परम्परा प्रारम्भ की। इस क्रम में पहला चरण मध्य पाषाण कालीन संस्कृति, दूसरा नव पाषाण कालीन संस्कृति, तीसरा एवं बृहद पाषाण कालीन संस्कृति का दक्षिण भारत में है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- बृहद पाषाणिक संस्कृति के विषय में।
- बृहद पाषाणिक संस्कृति की विशेषताओं के बारे में।
- महापाषाणिक समाधियों के प्रकार के विषय में।

15.3 महापाषाणिक संस्कृति

गार्डन चाइल्ड ने बृहद पाषाणिक स्मारको की संरचना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ये किसी अंधविश्वास सम्बंधी अनुष्ठानो अथवा धार्मिक उद्देश्य से बनाये जाते थे। विशिष्ट प्रकार के इन स्मारको का निर्माण या तो शवो को दफनाने के लिए अथवा मृत व्यक्ति की स्मृति को स्थाई बनाये रखने के लिए किया जाता था। मार्टीमर व्हीलर के अनुसार (Megalith) बृहद, अनगढ़ पाषाण खण्डो से निर्मित उन स्मांरको को कहा जाता है जिनका मृतको को दफनाने के लिए अथवा मृतको के स्मारक के रूप में निर्माण किया गया हो। इस प्रकार ये स्मारक अंतिम संस्कार से सम्बन्धित समाधिकरण, दाह संस्कार, स्मारक या किसी धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध माने जा सकते हैं।

भारत में बृहदपाषाणिक समाधियां अभी तक निम्नलिखित क्षेत्रों से प्रकाश में आयी है–

- दक्षिणी भारत
- उत्तर भारत
- विदर्भ क्षेत्र

बृहदपाषाणिक समाधियों के लिए दक्षिण भारत का क्षेत्र सबसे महत्वपूर्ण है इस क्षेत्र में बृहदपाषाणिक समाधियों के अन्वेषण की परम्परा लगभग 150 वर्ष प्राचीन है। कर्नल मीडोज टेलर ने सन् 1851 से 1862 ई0 के बीच कर्नाटक के गुलबर्गा क्षेत्र में सोरापुर दो आब क्षेत्र की बृहद पाषाणिक समाधियों के उत्खनन का विवरण प्रकाशित किया था। अलेक्जेंडर री नामक पुराविद ने 1879 से 1905 ई के मध्य

तमिलनाडु के तिरूनल्बेलि जिले में ताम्रपर्णि नदी के तट पर स्थित आदिचन्नलूर नामक पुरास्थल पर अनेक अस्थि कलशों का उत्खनन कराया था। इस प्रकार बहुत से पुराविदो द्वारा समय–समय पर इस क्षेत्र के पुराविशेषों एवं पुरानिधियों को उद्घाटित करने का कार्य किया है।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की ओर से बी डी कृष्णास्वामी के नेतृत्व में 1944 ईस्वी में दक्षिण भारत की बृहदपाषाणिक समाधियों का सुव्यवस्थित ढंग से सर्वेक्षण कार्य प्रारम्भ किया गया, जिसके फलस्वरूप इस प्रकार की समाधियों के प्रकारो के विषय में पहली बार पुरातत्व वेत्ताओं को प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हुई। दक्षिण भारत की बृहदपाषाणिक समाधियों के अनुसंधान कोब्रह्मगिरि नामक पुरास्थल के उत्खनन के पूर्व कोई वैज्ञानिक आहार नहीं मिल पाया था। व्हीलर द्वारा ब्रह्मगिरि के सन् 1947 ई0में उत्खनन ने सर्वप्रथम दक्षिण भारत के पुरातत्व विशेषकर बृहदपाषाणिक संस्कृति को एक सुदृढ आधार प्रदान किया।

दक्षिण भारत में इन समाधियों का प्रसार मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल में दिखाई देता है। इस काल की संस्कृति में सांस्कृतिक विशेषताएं समान रूप से मिलती है। कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड और लोहे के उपकरण लगभग प्रत्येक क्षेत्र की समाधि से प्राप्त होते है। लेकिन दक्षिण भारत में प्राप्त समाधियां एक समान नहीं हैं। बृहद पाषाणिक समाधियो के प्रकारो के प्रसार में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। केरल में शैलकृत कृत्रिम गुफाएं मिलती है। इस तरह के उदाहरण कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडु में नहीं मिलते है। दक्षिण भारत की अनेक महापाषाणिक समाधि स्थलों का उत्खनन हो चुका है जिसमें ब्रह्मगिरि, मास्की, संगनकल्लू, पिकलीहल, टी नरसीपुर, नागार्जुनकोण्डा, सिंगनपल्ली, पलवाय, आदिचन्नल्लूर, चिंगलपट्टू, शाणूर, उन्नतूर, पय्यमपल्ली आदि विशेष उल्लेखनीय है।

15.4 बृहदपाषाणिक/महापाषाणिक समाधियों के प्रकार

दक्षिण भारत की बृहदपाषाणिक समाधियो की संस्कृति के लक्षण तो एक है लेकिन समाधियों के प्रकार में विभिन्नता दिखाई देती है जिससे इन समाधियो को अलग–अलग विभाजित किया गया है जो निम्न है–

1. डोलमेन समाधि (Dolmeniod cist)
2. संगोरा समाधि (Cairn circle)
3. मेनहीर (Menhir)
4. फणशिला समाधि (Hood stone)

5. छत्रशिला समाधि (Umbrella stone)
6. गुफा समाधि (Rock-Cut Caves)
7. अन्त्येष्टि कलश समाधि (Pot Burials)
8. शवमंजूषा समाधि (Cist Burials)

15.4.1 डोलमेन समाधि –

डोलमेन समाधि आयताकार मेज के आकार की होती है। इसका निर्माण जमीन की सतह के ऊपर ही किया जाता था। डोलमेन 'केल्टिक' भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ पत्थर की मेज है। सामान्यतः मृतक को दफनाने के लिए समतल जगह पर संदूक के आकार की क्रब्र को बनाने के लिए 4 या 4 से अधिक शिलाओं को चारो तरफ खड़ा कर दिया जाता था इनको 'आर्थोस्टेट' कहा जाता है। दक्षिण भारत में कभी–कभी इन्हे स्वास्तिक के आकार में सजाया जाता था। इस समाधि में एक वृत्ताकार, अर्द्धवृत्ताकार अथवा चतुर्भुजाकार छेद होता है जिसे प्रवेश छिद्र या गवाक्ष कहा जाता है। इस छिद्र के निर्माण का प्रयोजन सम्भवतः मृत आत्मा को समय–समय पर भेट–पूजा चढाने या अस्थियां रखने के लिए था। डोलमेन समाधि का दिक् विन्यास अधिकाशतः पूर्व–पश्चिम की ओर मिलता है। समाधि में अन्त्येष्ठी समाग्री कब्र के अन्दर और उनके किनारे–किनारे चारो ओर रखी हुई मिलती है। क्रबो में भी कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड, लौह उपकरण मिट्टी की बनी हुई छोटे–छोटे पैरो से युक्त शव मजूषाएं मिलती है इस प्रकार की कब्रों का उदाहरण कर्नाटक में ब्रह्मगिरि और तमिलनाडु के चिंगलपेट से मिले है।

15.4.2 संगोरा समाधिः–

संगोरा समाधि(Crain Circle) के लिए जमीन में 150 सेन्टीमीटर से 2 मीटर तक गहरा गड़ढा खोदा जाता था। गड्ढे का व्यास 2.40 से 3.60 मीटर तक मिलता है। गड़ढे के फर्श पर मनुष्य के अस्थि अवशेष, जानवरो की हड्डियां मिट्टी के बर्तन, तांबे और लोहे के उपकरण तथा मनके आदि रखकर गड्ढे की मिट्टी से भर दिया जाता था। गड्ढे मे कभी–कभी पैरयुक्त मिटटी की शवपेटिकाएं भी रखी हुई मिली है। जिनमें मनुष्यो की अस्थियों के अतिरिक्त लौह उपकरण एवं मृदभाण्ड मिले है। इस प्रकार शव पेटिकाएं तमिलनाडु की चिंगलपेट से मिली है।

15.4.3 छत्रशिला अस्थि (Umbrella stone) :–

छत्र शिला छाते से मिलती जुलती आकृति की समाधियों को कहा जाता है दक्षिण भारत के स्थानीय लोग इन्हें टोपिकल (Topi-kal) कहते है जो मानव समाधियों के ऊपर स्थापित की जाती थी। इस प्रकार की छत्र शिलाओं के निर्माण के लिए जमीन पर 4 बड़े पत्थर स्थापित किए जाते थे। जिनके ऊपर गुम्बदाकार

एक बड़ा शिलाखण्ड रख दिया जाता था इस तरह की समाधियां केरल प्रान्त के कोचीन जिले में स्थित अरियनूर, चेरमनगाद नामक पुरास्थलों से मिली है।

15.4.4 फणशिला (Hood stone) :–

इस प्रकार की समाधियों में गड्ढा खोदकर उसमें मानव अस्थियां और अन्त्येष्टि सामग्री को रखकर गड्ढे को मिट्टी से भर दिया जाता था। उसके बाद कब्र के ऊपर गोलाकार एक शिला औधां कर रख दी जाती थी। दूर से देखने पर इस प्रकार की समाधियां सांप के फैले हुए फण की तरह प्रतीत होती है इसलिए इन्हें 'फणशिला' कहा जाता है। दक्षिण भारत की स्थानीय भाषा में इस प्रकार की समाधि को 'कुडाइकल' कहते है। समाधि के ऊपर कभी–कभी 5 से लेकर 12 तक शिलाएं वृत्ताकार रखी हुई मिलती है इन्हें अनेकानेक फण शिलाएं कहा जाता है (Multipal Hood stone)।

15.4.5 मेनहीर (Menhir) :–

दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रो में ग्रेनाइट पाषाण स्तम्भ से र्निमित संरचनाएं मिलती है, जिन्हें समाधि संकेत सूचक चिन्ह के रूप में शवाधान के पास स्थापित कर दिया जाता है जिन्हे मेनहीर की संज्ञा दी जाती है। जिन क्षेत्रों में अन्य बृहदपाषाणिक समाधियां मिली है उन्हीं क्षेत्रों मे मेनहिर भी मिले है। मेनहिर 1.50 मीटर से 2.40 मीटर तक लम्बे मिलते है लेकिन कभी–कभी 6 मीटर लम्बे मेनहिर भी मिलते है। मेनहीरों का दिक्–विन्यास उत्तर–दक्षिण की ओर प्रायः मिलता है। एक स्थान पर तीन–तीन, चार–चार, पांच–पांच की चार और पांच पंक्तियों में मेनहिर मिलते है। कर्नाटक के गुलबर्गा जिले में एक ही स्थान पर सैकड़ो की संख्या में मेनहीर प्राप्त हुए है अभी तक कर्नाटक के रायचूर जिले में स्थित मास्की नामक पुरास्थल को छोड़कर किसी अन्य मेनहीर का उत्खनन नहीं किया गया, इसलिए इनके सांस्कृतिक विषय के संदर्भ में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

15.4.6 गुफा समाधिया (Rock-Cut Caves) :–

गुफा समाधियां केरल प्रान्त के पहाड़ो के लेटराइट चट्टानो को काटकर बनाई गई हैं। ये गुफाएं आयताकार अथवा वर्गाकार मिलती है, जिनकी छत गुम्बदाकार है। गुफाओं के प्रवेश द्वार 30–35 सेमी0 आकार के है। गुफाओं की फर्श का धरातल प्रायः द्वार से 30–60 सेमी0 नीचा है। समाधि तक पहुंचने के लिए चट्टान को काटकर सीढ़ियां बनाई गई है। इन गुफाओं मे 1 से अधिक मृतको को एक ही गुफा मे दफनाए जाने का साक्ष्य मिले है। इन समाधियो के साथ मिट्टी के बर्त्तन एवं लोहे के उपकरण प्राप्त हुए है इस प्रकार की गुफाए केरल के कोच्चीन जिले में कट्टकमपाल, प्रीश्रूर जिले में पोर्कलम आदि से मिली हैं।

15.4.7 अन्त्येष्टि कलश :–

इस प्रकार की समाधियो में मिट्टी के बड़े पात्र का उपयोग किया जाता था तथा बच्चों को दफनाया जाता था। अन्त्येष्ठी सामग्री के रूप में मिट्टी के बर्त्तन, लोहे और तांबे के उपकरण कभी–कभी अन्त्येष्टि कलश में ही भर दिए जाते थे और कभी–कभी अन्त्येष्टि कलश के बाहर रख दिए जाते थे। इस प्रकार की समाधि तमिलनाडु के चिंगलपटटु जिले के शाणूर नामक स्थल से मिली हैं।

15.4.8 शव मंजूषा :–

शव मंजूषा का निर्माण मिट्टी से किया जाता था, जिसके कई हिस्से होते थे। शव मंजूषा के नीचे के हिस्से में पशुओ के पैरो की तरह छोटे–छोटे पैर होते थे। मिट्टे के संदूक को आवें में पकाने के बाद दफनाने के लिए उपयोग में लाया जाता था। ब्रहमगिरि, मास्की, आदिचन्नलूर नामक पुरास्थलो से उत्खनन से अत्येष्टी कलश के नमूने मिले हैं। तमिलनाडू में चिंगलपट्टू जिले के शाणूर से मृदभाण्ड शव मंजूषा के साक्ष्य मिले हैं। इन समाधियों से जो मिट्टी के बर्तन प्रान्त हुए है वो अन्य समाधियों से भी प्राप्त होते है जो मुख्य रूप से कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड हैं।

इस प्रकार यहां की समाधियों से प्राप्त अन्त्येष्टि साम्रगी के आधार पर बृहदपाषाण कालीन संस्कृति के मानव के रहन–सहन के ऊपर भी प्रकाश पड़ता है। दक्षिण भारत में लौह काल में मृत्तको का अंतिम संस्कार दफनाकर किया जाता था दफनाने की कई प्रकार की विधियां प्रचलित थी जिनका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। मृतकों को अलग–अलग तरह से दफनाने के पीछे इनका अपना कोई धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रयोजन रहा होगा।

15.5 दक्षिण भारत की बृहदपाषाणिक संस्कृति की विशेषताएं (लौह संस्कृति):–

हालांकि बृहद पाषाणिक समाधियां कई प्रकार की मिलती है लेकिन सभी समाधियो से लगभग एक ही प्रकार की सांस्कृतिक विशेषता प्राप्त होती है जो निम्नवत है–

कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड :– दक्षिण भारत की सभी बृहदपाषाणिक समाधियों और इस संस्कृति से संबन्धित आवास स्थलो पर कृष्ण–लोहित मृदभाण्ड मिलते हैं। इस मृदभाण्ड परम्परा के पात्रों का सम्पूर्ण आंतरिक भाग और गर्दन का भाग काले रंग का तथा शेष बाहरी भाग लाल रंग का होता है। इस परम्परा के प्रमुख पात्रों मे छोटे किनारों के छिंछली थालियां, ऊँची बारी के कटोरे, घुण्डीदार ढक्कन, घड़े, मटके आदि है।

लौह उपकरण :–दक्षिण भारत की बृहदपाषाणिक समाधि और आवास क्षेत्रों से लोहे के बने हुए अस्त्र–शस्त्र प्राप्त होते है। इसमें लगभग 33 प्रकार के उपकरण प्राप्त

हुए है। प्रमुख उपकरणो मे चिपटी कुल्हाड़ियाँ, फावड़े, हंसिया, छेनी, बंसुले, चाकू, मछली पकड़ने की कटिया, वाणाग्र, तिपाई, घोड़े की लगाम, नाल, त्रिशूल, तलवारे, एवं कटारें आदि है।

कृषि तथा पशुपालन :–इस काल के लोग अपना जीवन यापन करने के लिए कृषि तथा पशुपालन करते थे। यहां से धान, जौ, रागी, चना, आदि प्रकार के अनाजो का उत्पादन इन लोगों के द्वारा किया जाता था। तालाबो से सिचाई की प्रथा सम्भवतः इस समय प्रचलित थी पालतु पशुओं में गाय, बैल, भैस, घोड़े, भेड़ बकरी आदि थे। अतः कहा जा सकता है कि इस काल के मानव की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि और पशुपालन था।

इस काल की तिथि बृहदपाषाणिक समाधियो से प्राप्त अवशेषों के आधार पर 1000 से 800 ईसा पूर्व तक माना जा सकता है।

15.6 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि वे लोग लोहे की वस्तुएं एवं कृष्ण लोहित मृदभाण्ड का प्रयोग करते थे तथा अपने जीवन–यापन के लिए कृषि और पशुपालन को करते थे। इस काल के मानव शाकाहारी के साथ–साथ मांसाहारी भी थे। साथ ही साथ जलीय जीवों मछली इत्यादि का प्रयोग भोजन में करता था।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. वर्मा, आर0के0 एवं नीरा वर्मा .2001. *'पुरातत्त्व अनुशीलन'*, परमज्योति प्रकाशनः इलाहाबाद।

15.8 बोध प्रश्न

प्रश्न.1– बृहद पाषाणिक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओंकी विवेचना कीजिए ?

प्रश्न.2– बृहद पाषाणिक संस्कृति के प्रकारों का वर्णन कीजिए?

नोट्स

नोट्स

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

"अपने भाइयों को मै सचेत करना चाहता हूँ कि मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायें। छोटी-छोटी सी बातों के लिए ही हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें।"

राजर्षि पुरूषोत्तमदास टंडन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

प्रयागराज

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333